# सिद्धयोग

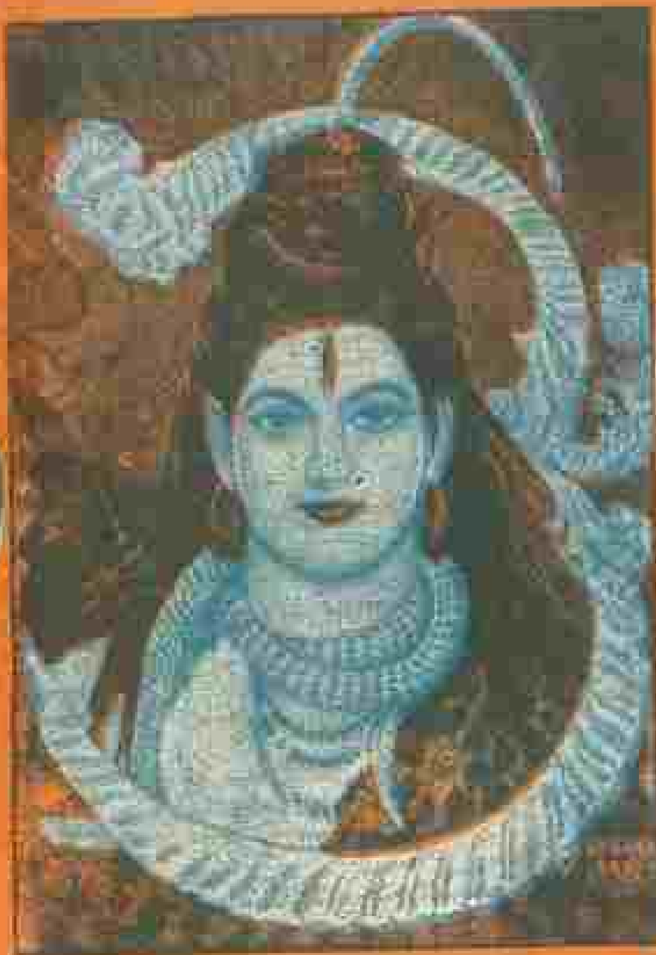

संस्थापक सम्पादक :
योगयोगेश्वर आचार्यश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

री
८५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८
अंक १०

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

# इस अंक में—

❀ जीवनं सर्व भूतेषु — १

❀ क्लेश और उनका मूल अविद्या — २
योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

❀ योग साधन की अनिवार्यता — ६
ब्रह्मचारी श्री बाललाल शर्मा

❀ भूल और उसका निराकरण — ९
सु श्री प्रियम्वदा

❀ योग क्या और क्यों ? — १०
श्री विष्णुप्रसाद व्यास

❀ संतमत में साधना — १७
स्व श्री सम्पूर्णानन्द, प्रेषक : श्री वीरेन्द्रसिंह

❀ श्रीमद् भगवद् गीता : एक अध्ययन — ३२
श्री शिवनारायण लाल

❀ नाम महिमा-सन्तों की दृष्टि में — ३६
श्री रामवृक्ष त्रिपाठी

❀ मोगरा खिला है (कविता) — ३८
सु.श्री उषा कुमारी

❀ योग ही क्यों ? — ४०
श्री योगेन्द्र नारायण

❀ विजय किसकी ? — ४२
श्री नानाभाई भट्ट

❀ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्
गोरक्षा-पद्धति में धारणा का स्वरूप

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जनवरी १९८६

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का ३ रुपया

# सिद्ध योग

## योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई ( [illegible] ) आगरा।

| | | |
|---|---|---|
| वर्ष १८<br>अङ्क १० | ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्<br>मर्त्यो मृत्योर्मुखं विहरतो, मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः।<br>तत्प्राप्त्यर्थं बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,<br>कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥ | जनवरी<br>१९८६ |


### जीवनं सर्व भूतेषु

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

भगवान श्री कृष्ण ने कहा :—

हे धनञ्जय ! तू यह समझ ले कि मेरे सिवाय अथवा मेरे से अतिरिक्त यहाँ—इस लोक में—कोई भी वस्तु नहीं है। सूत में मणियों के समान यहाँ सब कुछ मेरे में गुंथा हुआ है।

हे अर्जुन ! जल में रस हूँ तथा चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश भी मैं हूँ। सम्पूर्ण वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ।

—भगवद् गीता

हमारा विशेष लेख—

# क्लेश और उनका मूल अविद्या

✽ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मनुष्य सदा क्लेशों से घबराता रहता है। जीवन का एक क्षण भी क्लेशों में न बीते ऐसी इच्छा उसकी सदा बलवती बनी रहती है। इतना ही नहीं कि वह केवल इच्छा मात्र करके ही चुप बैठकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर लेता हो किन्तु वह क्लेश निवारण हित विभिन्न प्रयास भी करता रहता है। दान, तप, जप, पूजा-पाठ, औषध, उपचार, व्यवसाय आदि सबके मूल में उसकी यही चाहना रहती है कि वह सभी प्रकार के कष्टों, क्लेशों और पाप-तापों से बचा रहकर सुख एवं शान्ति से भरा-पूरा जीवन इस धरती पर बिता सके। लेकिन बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी क्लेश रहित जीवन जीने की कामना पूरी नहीं हो पाती। वह सुख और शांति की झोली भरने हेतु घर से निकलता है किन्तु जा पहुँचता है ऐसे कटीले अरण्य में जहां कष्ट, क्लेश और आपदायें अनायास आकर उससे टकरा जाती हैं और न चाहते हुए भी उसे उनका प्रतिफल भोगना पड़ता है। क्या कभी आपने सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? क्यों और कैसे यह अनचाहे और बिन-बुलाये मेहमान मानव के मन-आँगन में आकर अपना आसन जमा लेते हैं?

इसका समाधान करते हैं हमारे धर्म-शास्त्र। जिनका उद्देश्य मानव-जीवन को सुखी, सम्पन्न और निरामय बनाये रखने का दिशा-बोध देना ही रहा है। जो मनुष्य इन शास्त्रीय दिशा-बोध की उपेक्षा करके—मनमाने ढंग से-अशास्त्रीय तौर-तरीकों से अपना जीवन बिताते हैं वे समझ ही नहीं पाते कि जीवन है क्या? क्यों और किसलिए यह मिला है, और क्यों उन्हें जीवन में क्लेशों तथा कष्टों का सामना करना पड़ता है?

इस लेख में जीवन के स्वरूप और उसके उद्देश्य की व्यापक चर्चा हम करने नहीं जा रहे। आगे कभी हम इस सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करेंगे। प्रस्तुत लेख में तो हमारी गवेषणा का विषय केवल इतना ही है कि शास्त्रीय दृष्टि से क्लेश क्या है और क्यों ये अनायास जीवनमें आकर उसे क्लेशमय बना डालते हैं।

योग-साधकों के हित में योगदर्शन के सूत्रकार भगवान पतञ्जलि के शब्दों में ही इस पर प्रकाश डालना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। वे योगदर्शन के पाद २ में सूत्र संख्या १२ में बड़ी स्पष्टता से लिखते हैं कि मनुष्य की जीवनयात्रा में क्लेशों का कारण

उसका अपना कर्माशय ही रहता है। सूत्र इस प्रकार है:—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः।

अर्थात् क्लेश ही जिसका मूल है ऐसा कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में भोगनीय होता है।

अब विचारणीय बात मात्र यह रह जाती है कि इस 'क्लेश मूलक कर्माशय' से जो सदा सर्वदा मनुष्य के जन्म-मरण का कारण बना रहता है, कैसे छुटकारा मिले ?

लेकिन इससे भी पहले यह जान लेना या समझ लेना भी जरूरी है कि क्लेश क्या है, इनका स्वरूप कैसा है, और वे कितने हैं, क्योंकि बिना इसके जाने समझे न क्लेशों से छुटकारा मिल सकेगा, न क्लेशमूलक कर्माशय से।

योग-दर्शन के साधन पाद के आरम्भ में ही भगवान पतञ्जलिदेव ने क्लेशों का नाम-भेद इस प्रकार किया है—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।    योग-दर्शन २-३

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश, पांच क्लेश कहे गए हैं।

इस सूत्र पर अपने भावों को व्यक्त करते हुए श्री व्यास देव जी महाराज निम्नांकित पंक्तियां लिखते हैं—

क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं दृढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारण स्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाकञ्चाभिनिर्हरन्तीति।

अर्थात् क्लेशों को ही पञ्चविपर्यय नाम से कहा गया है। यह बढ़े हुए क्लेश गुणाधिकार को उत्तरोत्तर दृढ़ करते हुए परिणाम को अवस्थापित करते हैं। कार्यकारण स्रोत को उकसाते हैं और एक दूसरे के साथ मिलकर के कर्मविपाक को प्रकट करते हैं।

इन पांचों क्लेशों में से प्रथम क्लेश अविद्या है और यह अविद्या क्लेशाधिकार की जननी है। रूप की दृष्टि से क्लेश चार प्रकार के रूपों में रहते हैं। १. प्रसुप्त, २. तनु, ३. विच्छिन्न ४. उदार। इन सभी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेशों में अविद्या नामक क्लेश प्रमुख है। भगवान पतञ्जलिदेव ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—

अविद्या क्षेत्र मुत्तरेषां प्रसुप्त-तनुविच्छिन्नोदाराणाम्।    योग २-४]

अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार यह जो क्लेशों के रूपक हैं उनकी जननी केवल मात्र अविद्या ही है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी ने जो भाव व्यक्त किया है वह इस प्रकार है—

अत्राविद्या क्षेत्रम्-प्रसव भूमिः, उत्तरेषाम्—स्मितादीनां चतुर्विध

कल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्, तत्र का प्रसुप्तिः चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च, तनुत्वमुच्यते, प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः कथं? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तइतिः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते सत्यमेवैतत् किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यास-प्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनुक्षीयन्त इति।

अर्थात् क्लेशों की उत्पादक प्रसव भूमि केवल अविद्या ही है। अविद्या के अतिरिक्त अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश इन सभी क्लेशों की उत्पत्ति अविद्या के बाद में है इस अविद्या के सहित अस्मिता, राग, द्वेषादि जितने क्लेश हैं वे सबके सब प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन रूपों में बंटे रहते हैं।

क्लेशों की प्रसुप्तावस्था का वर्णन करते हुए भगवान व्यासदेव बतलाते हैं। प्रसुप्ति उसे कहते हैं जिसमें संस्कार बीजमात्र से रहा करते हैं, अर्थात् जैसे बीज के अन्दर वृक्ष छुपा रहता है तब तक जब तक कि वह प्रगट नहीं होता। इस रूप में यानी बीजभाव में वह प्रसुप्त है, शक्तिमात्र से कायम है। अभी तक किसी भी प्रकार से वह क्रियाशील नहीं है। उदाहरण के तौर पर इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि जैसे वट वृक्ष का बीज बिल्कुल अणुमात्र होता है जब उसका उद्गम समय आवेगा तब वह बहुत ही लम्बा-चौड़ा

विस्तार लेकर के दूर तक फैल जावेगा। किन्तु जब तक यह बीज भाव से अवस्थित है तब तक उसका यह प्रसुप्तिकाल है। प्रसुप्त संस्कार अनुकूल काल सामने आने पर प्रगट हो सकते हैं, किन्तु योगी जिस समय अपनी योग ज्ञानाग्नि के द्वारा ऐसे प्रसुप्त संस्कारों का दहन कर देता है तब वे सब संस्कार दग्धबीज हो जाया करते हैं। जिस समय योगी के संस्कार दग्धबीज हो गये होते हैं ऐसी स्थिति पा जाने के बाद योगी का शरीर अर्थात् देह चरमदेह कहलाया करता है। ऐसा योगी जन्म-मरण के चक्र से बिल्कुल छूट जाया करता है। इसीलिए इसको चरमदेह कहा गया है। इसके अतिरिक्त तनु, विच्छिन्न एवं उदार वृत्ति के संस्कार और रहते हैं, इनमें से साधक किसी एक विषय में रागवान होता है तो वह दूसरे विषयों में विच्छिन्नता एवं तनुत्व धारण कर लेता है।

उदाहरण के लिए इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि जैसे किसी साधक का एक विषय के अन्दर राग है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं, समझना चाहिए कि बाकी अन्य विषयों में उसका राग है ही नहीं या होगा ही नहीं, ऐसी बात नहीं है उस समय का वह उसका राग उदार वृत्ति वाला कहलाएगा। किन्तु शेष विषयों में उसकी तनुता या विच्छिन्नता आ जायगी। उदाहरण के लिए इसे भी यों समझ लेना चाहिए कि जैसे कोई कामुक व्यक्ति किसी स्त्री से स्नेह करता है और उसका स्नेह इतनी अधिक मात्रा में बढ़ा हुआ है कि वह उससे एक क्षण भी दूर नहीं रह सकता, तब यह उसका संस्कार उदार वृत्ति वाला संस्कार है जो दृढ़तर है। इसी को लब्धवृत्ति संस्कार भी कहते हैं पर इसका भी अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का प्रेम किसी दूसरी जगह है ही नहीं या होगा ही नहीं। होगा तो अवश्य किन्तु वह गौण होगा। जैसे राग के समय क्रोध दिखाई नहीं देता। जहाँ क्रोध प्रबल होता है वहाँ राग हल्का पड़ जाता है। इसी तरह जब किस एक संस्कार का पूर्ण प्रबलता के साथ भुगतान होता है तो उसके अन्य संस्कार हल्के पड़ जाते हैं या विच्छिन्न हो जाते हैं जैसे एक व्यक्ति ने कहीं किसी गाँव में जन्म लिया, उस समय वहाँ के उसके बन्धु-बान्धव बहुत ही प्रेमी और प्यारे हैं। देखने से मालूम पड़ता है कि इनकी यह प्यार और प्रीति कभी टूटेगी नहीं किन्तु समय आने पर किसी व्यापार के बहाने वही व्यक्ति हजारों मील की दूर जाकर बस जाता है। तब ऐसी दशा में वह उन पुराने मित्र-प्रेमियों को बहुत ही कम याद करता है या अधिक समय हो जाने के बाद तो बिल्कुल भूल ही जाया करता करता है। इसे बिल्कुल भूल जाने का अर्थ है—विच्छिन्नता और थोड़ा थोड़ा याद रहने का अर्थ होता है तनुत्व। इन सभी प्रसुप्त तनु,

# दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु
# योग साधन की अनिवार्यता

❀ ब्रह्मचारी श्री रामलाल शर्मा

संसार के समस्त दर्शन दुःख निवृत्ति तथा स्थाई सुख की प्राप्ति के लिए ही विभिन्न सिद्धांतों का निरूपण करते हैं। साधन अलग-अलग होने पर भी लक्ष्य व गन्तव्य पथ एक ही है जीव को स्थाई सुख की प्राप्ति कराना ही सबका उद्देश्य है। जीव अनन्त कोटि जन्मों से अज्ञान के कारण मायिक वस्तुओं में शाश्वत सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता चला आ रहा है। अनन्त जन्मों के विषय-भोग के पश्चात् भी तृष्णा समाप्त नहीं हुई, इस प्रकार यह अत्यन्त विक्षिप्त अवस्था में ही है। कहीं भी इसे शाश्वत् सुख की प्राप्ति न हो सकी। कारण यह है कि पुत्र, दारा, धन-सम्पत्ति सभी सुख के पदार्थ स्वयं परिणामी तथा परिवर्तनशील हैं। इसी कारण से स्थाई सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती।

प्रतिक्षण वर्द्धमानम् सुखम्।

के आधार पर सुख वही है जो प्रतिक्षण बढ़ता ही चला जाय। इस प्रकार का सुख विषयों में कहाँ ?

इस प्रकार का सुख मनुष्य को केवल एक ही उपाय से मिल सकता है वह है योग। योग साधना के द्वारा जब योगी अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तभी उसे शाश्वत् सुख व शान्ति मिल सकती है।

शास्त्रों में त्रिविध दुःख का वर्णन है। इस त्रिविध दुःख का समूलोन्मूलन करने में योग ही समर्थ है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक भेद से दुःख तीन प्रकार का है। इसमें आध्यात्मिक दुःख-पुनः दो प्रकार है, शारीरिक तथा मानसिक।

काम, क्रोध, लोभ-मोह, इच्छा-द्वेष, अभिनिवेश इत्यादि मानसिक दुःख हैं।

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

विक्षिप्त एवं प्रचार संस्कारों की जन्मदात्री होती है अविद्या। इसलिए यही अविद्या सभी क्लेशों की मूलभूता है यानी जननी है। अतः शास्त्रकार परामर्श देते हैं कि पाँचों क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए साधक अथवा योगी को अपना प्रधान शत्रु अविद्या को समझ कर उसका नाश सद्गुरु के सानिध्य में रह कर ज्ञान की तीक्ष्ण तलवार से करना चाहिए।

✿

व्याधि आदि द्वन्द्व शारीरिक दुःख हैं, आध्यात्मिक दुःख हैं। व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक जानवर, सर्प-बिच्छू, मच्छर तथा अन्य-अन्य प्राणियों से परस्पर प्राप्त दुःख आधिभौतिक दुःख कहलाता है। आधिदैविक दुःख के अन्तर्गत अतिवृष्टि, अनावृष्टि वज्रपात तथा अन्य दैवी प्रकोप आते हैं।

यदि कोई कहे कि लौकिक उपायों से ही इन त्रिविध दुःखों से छुटकारा मिल सकता है तो योग साधना आदि कठिन क्रियाओं को अपनाने की क्या आवश्यकता है तो यह कहना उपयुक्त नहीं है। मानसिक दुःखों के निवारणार्थ पर्याप्त स्त्री, पुत्र, धन ऐश्वर्य मनोनुकूल मित्र आदि हैं तो भी राग-द्वेषादि ऐसे दुःख हैं जो बिना यम, नियम के पालन किये दूर नहीं किये जा सकते। योगदर्शन में रागद्वेषादि दुःखों को दूर करने के लिए यम-नियम की साधना के साथ-साथ पतञ्जलिदेव ने 'प्रतिपक्ष भावना' तथा मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का उपदेश कर साधक को अपने मन को संतुलित रखने का आदेश दिया है। शारीरिक दुःख के निवारण का अनेक अच्छे-अच्छे वैद्य, डाक्टर उपलब्ध होते हैं तो भी प्रज्ञापराध कृत जो रोग होते हैं या तपस्वी महापुरुषों के प्रति किये गये अपकार इसी जन्म में फल देने वाले होकर उपचार से न ठीक होने वाले होते हैं। वह भुगतान से ही ठीक हुआ करते हैं। सुन्दर भवन स्वच्छ भय रहित स्थान में रहते हुए भी मनुष्य आधिभौतिक दुःखों से आक्रान्त ही रहा करता है। वह अपने से बलवान प्राणी से सदा भय ही बना रहता है। प्रतिकूल इसके स्व स्वरूप में अवस्थित होने पर योगी सर्वथा अभय बना रहता है, आधिदैविक दुःखों के निवारण के लिए मणि, ग्रहस्तोत्र पाठ, इत्यादि अनेक उपायों के होने पर भी, यह दुःख किसी न किसी रूप में बना ही रहता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि लौकिक उपायों से त्रिविध ताप का आत्यन्तिक तथा एकान्तिक उपशमन नहीं किया जा सकता। इसलिए मनुष्य को योग धर्म का अवलम्बन लेना ही पड़ता है।

योगदर्शन में पञ्च क्लेश का निरूपण है। क्लेश निवृत्ति व कैवल्य लाभ ही इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यह पञ्च क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश है, जिनका विस्तृत वर्णन इस शास्त्र में किया गया है। इनमें अविद्या ही सब क्लेशों की जननी है।

योगदर्शन में इन पञ्च क्लेशों के अतिरिक्त एक अन्य सूत्र द्वारा चार प्रकार के दुःखों का वर्णन मिलता है—

'परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च सर्वमेव दुःखम् विवेकिनः।'

—योगदर्शन २/१५]

सूत्रार्थ यह है कि परिणाम, ताप, संस्कार

तथा गुण की वृत्ति-अविरोध के कारण विवेकी योगी के लिए सब सुख भी दुःखरूप है।

राग-द्वेष से अन्य आसक्त रागात्मक तथा द्वेषात्मक कर्माशय बनता है जिससे पुनः उसी प्रकार के कर्म बनने लगते हैं। यही परिणाम दुःख है। राग और द्वेष से युक्त हुआ मनुष्य किसी को अनुगृहीत तथा पीड़ित करता है, जिससे वह पुण्य-पाप का भागी बनता है। यही ताप दुःख है। संस्कार दुःख क्या है? सुख के अनुभव करने पर सुख संस्कार तथा वासनाएं बनती हैं जिससे पुनः उसी प्रकार के कार्य बनने लगते हैं। यह वासना और संस्कार का चक्र अहर्निश चलता रहता है। जिससे मनुष्य उन वासनाओं से प्रेरित हुआ अनेक योनियों में भटकता रहता है। यही संस्कार दुःख है।

'गुणवृत्त्याविरोधाच्च सर्वमेव दुःखम् विवेकिनः।'

गुण-वृत्तियों के अविरोध के कारण सब दुःखरूप ही है। संसार के सभी पदार्थ सुख-दुःख और मोहात्मक हैं क्योंकि सब पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। चित्त भी त्रिगुणात्मक है इसलिए 'क्षिप्रपरिणामी' भी कहा जाता है। क्लिष्टाक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों के चित्त में रहने के कारण चित्त की यह अवस्थाएं योगी को दुःख रूप ही प्रतीत होती हैं। किसी किसी पुस्तक में इस सूत्र में 'गुणवृत्ति विरोधाच्च' है जिसका अर्थ यह हो जाएगा कि गुणों की जो वृत्तियां हैं उनमें आपस में गुण धर्म में विरोध होने के कारण इन सबको योगी दुःख रूप ही मानता है।

महापुरुषों ने भी इस जगत् को दुःखों का घर कहा है। अज्ञान निवृत्ति पर्यन्त दुःख ही दुःख है।

'दुःखालयम् शाश्वतम् अनित्यम्-सुखम् लोकम्' इत्यादि भगवान के वचनों से भी इस जगत् में व्याप्त दुःख का संकेत मिलता है।

समस्त दुःखों व क्लेशों का हेतु अविद्या है। योगदर्शन के अनुसार पुरुष प्रकृति संयोग ही अज्ञान ग्रन्थि का कारण है। अज्ञान से ही बन्धन तथा ज्ञान से मुक्ति होती है। योग-शास्त्र में इस अज्ञान ग्रन्थि को दूर करने का उपाय है-विवेक ख्याति।

'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।'

सम्पूर्ण साधनाएं विवेक ख्याति पर्यन्त ही हैं। विवेक ख्याति हो जाने पर पुरुष तथा प्रकृति का अलग-अलग ज्ञान हो जाता है। जिससे उन दोनों में आरोपित धर्म का भी निवारण हो जाता है। प्रकृति (बुद्धि) में जो चेतनता है वह पुरुष की है और उस आत्मा में आरोपित जो सुख-दुःखादि भोग है वह बुद्धि के धर्म हैं जो अज्ञानवश आत्मा में आरोपित हैं। विवेक ख्याति होने पर इस

—शेष टाइटिल के तीसरे पृष्ठ पर पढ़िए।

सन्त चरित्र—

# भूल और उसका निराकरण

सन्त-चरित्र लिखने वाले नाभाजी स्वयं उच्च कोटि के सन्त थे। एक बार वे गोस्वामी तुलसीदास जी से मिलने गये। तुलसीदास जी उस समय रामजी की पूजा में बैठे थे तो नाभाजी उनसे मिल न सके। अतः उन्हें तुलसीदास जी पर रोष आया। "तुलसीदास तो अभिमान का पुतला है" यों मन ही मन बोल कर तुरन्त वे वहां से वृन्दावन लौट गये।

तुलसीदास जी को जब इस बात का पता चला तब उन्होंने सोचा, नाभाजी जरूर नाराज हुये होंगे, मुझे उनसे क्षमा मांगनी चाहिये। यों सोच कर वे वृन्दावन गये। उस समय नाभाजी कुछ अभ्यागतों को भोजन खिला रहे थे। सन्त तुलसीदास तो इन अभ्यागतों की पंक्ति में आखिर में बैठ गये।

नाभाजी परोसते-परोसते तुलसीदास जी की थाली के पास आये तो खीर के लिए लगने वाले दोने खतम हो गये थे, यह देख सन्त तुलसीदास ने अपने नजदीक पड़ा किसी साधु का जूता उठा लिया और नाभाजी के सामने बढ़ा कर बोले, "मुझे इसमें खीर दें। मेरे जैसे नाचीज को तो ऐसा जूते का पात्र ही योग्य है।"

इस नम्रता को देखते ही नाभाजी बोल उठे, "मुझे क्षमा करें। मैंने आपको समझने में गलती की थी और रोष में आपसे मिले बिना लौट आया था।"

—सुश्री प्रियम्वदा

---

❀ पथ्यों में सर्वश्रेष्ठ प्रशम अर्थात् काम, क्रोध, शोक, चिन्ता, लोभ, मोह आदि के वश न होना है।

❀ अपनी शक्ति से अधिक काम करके हार जाना सबसे बड़ा अपथ्य है।

❀ प्यास के अतियोग को शान्त करने वाले पदार्थों मिट्टी व मिट्टी के पके ढेले से बुझाया गया पानी सर्वश्रेष्ठ है।

❀ अपनी पाचन अग्नि के अनुसार भोजन करना अपनी जाठर अग्नि को तीव्र करने का सर्व-श्रेष्ठ उपाय है।

—चरक संहिता

# योग क्या और क्यों?

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

**योग का अर्थ है – परमेश्वर से मिलना।**

यह निर्विवाद सत्य है कि यह जीव उस परमेश्वर का अंश है, परमात्मा इस जीवात्मा के अंशी हैं। अंश होने पर भी इसमें वे सम्पूर्ण अलौकिक शक्तियाँ जो उस ईश्वर में पाई जाती हैं इसमें पूर्ण रूप से अपना प्रभाव नहीं डाल पा रहीं—उधर से तो सच्चिदानन्दघन प्रभु परम शान्ति, शाश्वत आनन्द और अक्षय सुख बरसा रहे हैं किन्तु यह आत्मा इस संसार की मनमोहिनी माया की झिलमिल के चक्कर में आकर उन उपहारों को ग्रहण नहीं करता। इस जीव का मन भटक गया है। जब कभी भगवान के प्यार में आता है तो उस विश्व-पति का द्वार खटखटा देता है नहीं तो जगत की वासनाओं में ही रमा रहता है। यही इसकी अविद्या है—यही अज्ञान है कि यह मानुष देह में भी आकर अपनी भूल को सुधारता नहीं। प्रभु-दर्शन के लिये लालायित नहीं होता यह निर्गुण निराकार परमात्मा इतना कृपाशील और दयासिन्धु है कि अपने आपको सन्त सद्गुरुदेव जी के रूप में वह इस भूमण्डल पर आकर प्रकट हो जाता है और चाहता है कि यह मेरा अंश मुझ अंशी में एकाकार हो जाय। वह निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप में मानव देह ओढ़कर ही आता है जिससे अंश भूत आत्माओं को उसे पहचानने में कोई कठिनाई न हो। ये कल्पोक्त परमेश्वर समझते हैं कि यह हमारे अंश व्यक्त रूप में है। और मैं हूँ अव्यक्त अनिर्देश्य और अरूप। वे मेरा ध्यान कठिनाई में ही कर पायेंगे? जैसा कि गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं:—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषा
मव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहवद्भिरवाप्यते॥

—गीता १२ श्लो० ५

उस निराकार ब्रह्म में घना प्रेम करनेवाले पुरुष को योग साधन में विशेष परिश्रम करना पड़ेगा; क्योंकि देहाभिमानी पुरुष को उस निराकार ईश्वर तक पहुँच बड़ी कठिनाई से होगी और अगर होगी भी तो समय के साकार सद्गुरुदेव जी के द्वारा ही होगी।

अतः सन्त सत्पुरुष सगुण साकार रूप में उसी निर्गुण निराकार ईश्वर को सम्पूर्ण

विभूतियों को अपने में समेटे हुए हम जीवों के मध्य आ विराजमान होते हैं—हम फिर क्यों न उनसे 'योग' करलें । उनके श्रीचरणार-विन्दों में अगाध अनुराग जोड़ दें—उनकी मौज और आज्ञा में दृढ़तापूर्वक चलने का संकल्प करलें । मानुष देह में आकर भी कब तक उनसे बिछुड़े रहेंगे ?

कभी वह समय भी था, हम चाहे उसे अबसे अलहदा होने के कारण से भूल गये हैं—जब कि यह आत्मा-परमात्मा में एकाकार हो रहा था । दोनों अभिन्न थे । बिन्दु अपने महासिन्धु में कल्लोल किया करता था । बिन्दु और महासिन्धु एकाकार थे । बूंद का अपना पृथक अस्तित्व कोई न था । महा-सिन्धु में ही इसने अपनी सत्ता को खो दिया था । कोई कष्ट—क्लेश भयंकर तूफान महासागर में आते तो यह विशेष रूपेण अपनी छाती पर हंसते-हंसते झेल लेता ।

यही दशा होती है एक योगस्थित पुरुष की । वह योग कुञ्ज में बैठा हुआ बाहर से आने वाले समस्त पाप-तापों से विमुक्त रहता है । वह अन्तर्मन में निश्चय किये हुए होता है कि ये बाह्य उतार चढ़ाव शरीर-इन्द्रिय और मन के धर्म हैं—मुझे इस योग में उनसे क्या प्रयोजन ? वह तो दिव्यातिदिव्य आनन्द का पान कर रहा होता है । उसमें देहाध्यास रहता ही नहीं । उसका हृदय महा समुद्र के समान बड़ा गम्भीर और शान्त रहता है । उसकी अन्तर्दृष्टि गुरु कृपा से उघड़ चुकी होती है अतएव वह संसार की असारता से भली भांति परिचित होता है । वह इसकी निस्सारता पर कभी विश्वास नहीं करता । सद्गुरु के शब्द की ज्योति से उसका हृदय आलोकित रहता है ।

मानुष जीवन की पूर्ण सहायता सद्गुरुदेव से युक्त होने में है । अपने इष्टदेव का अपरोक्षानुभूति का अनुभव हो जाने पर योगी को जो असाधारण लाभ होता है, वह वर्णनातीत है । ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ एक साधक अपने पर आई हुई बड़ी से बड़ी विपत्ति को भी शान्त भाव से सह जाता है श्रीकृष्ण भगवान ऐसे सच्चे साधक के सम्बन्ध में क्या सुन्दर कथन करते हैं :—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं,
मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन,
गुरुणापि विचाल्यते ॥

—गीता ६-२२

भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन होने के लाभ से बढ़कर वह योग युक्त पुरुष दूसरे किसी लाभ को नहीं मानता । उस आनन्द में विभोर हुआ हुआ वह गुरुमुख साधक बड़े से बड़े कष्ट से भी चलायमान नहीं होता । और भी—

प्रशान्तमनसं ह्येनं,
योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्त रजसं,
ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।

—गीता ६-२७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं,
योगी विगतकल्मषः ।
सुखेनब्रह्मसंस्पर्श-
मत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
गीता ६ श्लो० २८

वह निष्पाप, शान्त चित्तवाला, ब्रह्मलीन और जिसका रजोगुण क्षीण हो चुका है योगी अक्षय सुख का भागी बनता है।

वह विशुद्ध पाप रहित योगी परमात्मा के ध्यान में समाहित होकर उस ब्रह्मानन्द का पान बड़ी सुगमता से कर लेता है।

ब्रह्म साक्षात्कार ही मानव देह की पूर्ण सफलता है। सन्तों की वाणी है—

कबीर सोया क्या करै,
जागि जागि अब जागि ॥
जाके संग ते बीछुड़ा,
ताहि के संग लागि ॥

जगा हुआ मनुष्य वही है जो प्रभु और अपने बीच में आई हुई खाई को पाट लेता है। जीवन काल में ही अपने प्रियतम में जा समाता है।

बूंद का अपने महासागर में जा मिलना ही उसकी जिन्दगी का सच्चा आनन्द है। ज्यों ही बूंद समुद्र में जा मिली तो उस सागर की सम्पूर्ण सामर्थ्य को उसने अपने में समा लिया। अब उसे सर्दी-गर्मी, आंधी-तूफान, धूप वर्षा का कोई भय नहीं।

श्री गुरुदेव जी से तदाकार स्थापित कर लेना ही निर्मल और सफल गुरु भक्ति है यानी उनकी आज्ञा में अपने मन और बुद्धि की समस्त चेष्टाओं को समर्पित कर देना ही परमार्थ है। संसार में सभी जीव किसी न किसी कर्म की पूर्ति में संलग्न है। कोई न कोई लक्ष्य भी उनके सामने होता है। किन्तु प्रश्न है कि वे कर्म क्यों कर रहे हैं?

उत्तर इसका यही है कि कर्म किये बिना रह ही नहीं पाते। जैसे कि :—

नहि कश्चित्क्षणमपि,
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशःकर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
—गीता ३-४

कोई भी व्यक्ति कर्म करने के बिना रह ही नहीं सकता। हर एक को अपने में स्थित सत्व, रज और तम ये तीन गुण किसी न किसी कार्य में लगा ही देते हैं।

कर्म करना अच्छा है विवेक सहित निष्काम कर्म करना सर्वोत्तम पक्ष है सद्गुरु भक्ति का भगवत् प्राप्ति का! परन्तु प्रायः जीव जो भी कर्म करता है उसमें "योग" का अभाव होता है। योग न होने से वह उत्तम से उत्तम कर्म भी मन की शान्ति का कारण नहीं बनता। उनके कर्म क्योंकि मनमति के अनुसार होते हैं और मन स्वयं अशान्त है, चञ्चलता का

घुलता है—इसलिये अथक परिश्रम से किया हुआ काम भी अन्त में उन्हें व्याकुल ही रखता है। चाहे वह कर्म ईश्वर-पूजा का हो या जप-तप का स्वाध्याय का अथवा परोपकार का—उसी में रमी हुई मन की चंचलता चित्त को शान्ति कैसे प्राप्त कर सकती है ? मन की तो ऐसी प्रकृति है कि जाग्रत और स्वप्न-अवस्थाओं में भी वह अपनी दौड़ बढ़ाये रहता है। जागरण काल में तो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का दल-बल लेकर अपनी मन-कामनाओं को पूर्ण करने में आकाश पाताल एक कर देता है। शरीर जब परिश्रान्त होकर विश्राम में हो जाता है तो स्वप्न काल में वह सचित कर्मयोगी जन्म-जन्मान्तरों से संजोई हुई अपनी इच्छाओं को सूक्ष्म शरीर द्वारा पूरा किया करता है। परन्तु सोचना तो यह है कि इतनी निरन्तर दौड़धूप का परिणाम क्या निकला ? कलह, कल्पना, क्लेश-चिन्ता दुःख विषाद बस—तो क्या मानव देह का भी एक एक श्वास इसी प्रकार मन की उछल कूद में नष्ट होता जायगा ? यह ठीक नहीं क्योंकि सद्गुरुदेव तो ही सम है—समदर्शी है—निर्द्वन्द्व है मन और बुद्धि आदि से परे है अतः उनकी मौज ही जीव से सदा परम मंगलमय कर्म करा सकती है। जीवों के मन की चंचलता बुद्धि को स्थिर और शान्त नहीं रहने देती।

इन्द्रियाणां हि चरतां
यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां
वायुर्नावमिवाम्भसि॥
—गीता अ० २-६७

जैसे—जल में चलती हुई नाव को पवन बहाकर ले जाता है वैसे ही विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में से जिस इन्द्रिय के साथ मन कार्य कर रहा होता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयोगी पुरुष की बुद्धि को अस्थिर कर देती है। वह भ्रान्ति में पड़ जाता है।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु महाबली, विद्वान, घोर तपस्वी, प्रभुता-सम्पन्न और पराक्रमी था। तपस्या के द्वारा उसने ब्रह्माजी को प्रसन्न करके अमोघ वर भी प्राप्त करलिये परन्तु इन वरदान का संचय उसके जीवन को क्या सुख दे सका—इसका साक्षी सतयुग का इतिहास है। उसमें यदि कोई कमी थी तो वह केवल "योग" की। उसके मन की तार उस परमात्मा से जुड़ी हुई न थी। किसी सन्त पुरुष की संगति में उसने अपने जीवन का एक क्षण भी न बिताया था। सन्त महात्माओं के सदुपदेश उसके कर्ण कुहरों में न पड़े थे। उसके नेत्रों ने भगवद् भक्तों के दर्शन करके अपने को धन्य न माना था—अर्थात् वह योग-युक्त पुरुष न था। इसलिये ही उसमें तप का प्रचण्ड दर्प था। घमण्ड उसके रोम-रोम में भरा हुआ था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उसने अपने

और परमभक्त पुत्र प्रह्लाद के प्राणों को हर लेने में कोई कोर-कसर न छोड़ी। उसके वध करने में उसे कोई भय न था। बल्कि दिल से चाहता था कि यह मेरी आँखों का काँटा मुझसे दूर होजाय। यह चरित्र ही तो है एक परमेश्वर की भक्ति से विमुख व्यक्ति का। दुष्कर्म करने वाले पुरुष को सदाही कोई न कोई आशंका सताती रहती है। इसके विपरीत जब हम भक्त प्रह्लाद के जीवन पर दृष्टिपात करते है तो क्या देखते है कि वह बाल्यकाल से ही निर्भय है। उसे अपने भगवान पर अटल विश्वास है।

एक दिन वह धर्मात्मा बालक गुरूजी के साथ अपने पिता दैत्यराज के पास गया तो उस समय वह मद्यपान में लगा हुआ था। उसने अपने चरणों में झुके हुए परम तेजस्वी पुत्र प्रह्लाद को उठाकर कहा—

वत्स-अब तक शाला में विद्याभ्यास में तत्पर रहकर जो कुछ पढ़ा है उसका सारतत्व मुझे सुनादो।

प्रह्लाद - पिताजी! मेरे मनमें जो परमेश्वर बसे हैं उनकी महिमा मैं आपको सुनाताहूं आप सावधान होकर सुनिए—

अनादिमध्यान्तम-
जमवृद्धिक्षयमच्युतम् ।
प्रणतोऽस्म्यन्त सन्तानं
सर्व कारण कारणम् ।

वि. पु. १-१७-१५

"जो आदि मध्य और अन्त से रहित, अजन्मा, वृद्धि-क्षय शून्य और अच्युत हैं-समस्त कारणों के कारण हैं जगत का संहार एवं विस्तार करने वाले हैं उन श्रीहरि को मैं प्रणाम करता हूँ।"

इतना सुनतेही हिरण्यकशिपु तो बौखला उठे उनके नेत्र क्रोध से लाल हो गये और काँपते हुए होठोंसे पुत्र उपाध्याय जी से बोले-रे दुर्बुद्धि ब्राह्मणाधम! यह क्या? तूने मेरी अवज्ञा कर इस बालक को मेरे शत्रु परमात्मा की स्तुति कहाँ से सिखा दी?

उपाध्याय-महाराज! आप क्रोध के वशीभूत न हूजिये। यह आपका पुत्र मेरी सिखाई हुई बात नहीं बोल रहा है।

दैत्यराज-क्यों प्रह्लाद! तब कहो मेरे रहते दूसरा कौन परमेश्वर कहा जा सकता है? क्यों तू तो मौत के मुख में जाने की इच्छा से बारम्बार कर रहा है। प्रह्लाद ने स्पष्ट उत्तर दिया- पिताजी!

न केवलं मद् हृदयं विष्णुराक्रम्य ।
लोकानखिला नवस्थितः ॥
स मां त्वादादींश्च पितः समस्तान् ।
समस्त चेष्टासु युनक्ति सर्वगः ॥

वि० पु० १-१७-२६

देवाधिदेव वह तो मेरे ही हृदय में नहीं अपितु सम्पूर्ण लोकों में स्थित है। वे सर्वव्यापी प्रभुजी मुझको, आप सब को और समस्त प्राणियों को अपने-अपने कामों में प्रवृत्त करते है। इतना सुनते ही दैत्यराज को तो

आग लगाई। और आवेश में ओझा— महान! महामूर्ख—तू अब भी परमात्मा का गुणगान करने से बाज ना आ—सर्पों की ओर देखकर-अरे सर्पों! इस अत्यन्त दुर्बुद्धि बालक को अपने विषैले दाँतों से काटकर नष्ट कर दो। वे विषधर तक्षक आदि जब काटने लगे तो प्रह्लाद ने कहा कि—

भय भयानामपहारिणि स्थिते,
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्म जरान्तकादि,
भयानि सर्वाण्य पयान्ति तात॥

वि० पु० १-१७-३६

हे सर्पो! तुम मेरा क्या करोगे—तुम्हें विदित नहीं क्या कि जिन परमात्मदेव के स्मरण मात्र से जन्म—जरा और मृत्यु आदि के समस्त भय दूर हो जाते हैं—उन सकल भयहारी परमात्मा के मेरे हृदय में स्थित रहते मुझे किसी प्रकार का भय आकुल नहीं कर सकता।

यह है अपने इष्टदेव परमात्मा से युक्त बालक प्रह्लाद की मनोभावना। वह पाठशाला में भी बच्चों को यही सिखाता था।

हे दैत्य कुमारो! विषयों का जितना संग्रह किया जाता है उतना उतना ही वे मनुष्य के चित्त में दुःख बढ़ाते हैं। जीव अपने मन को प्रिय लगने वाले जितने ही सम्बन्धों को बढ़ाता है उतने ही उसके हृदय में शोक कीलें गड़ते जाते हैं। जैसे कि—

यावतः कुरुते जन्तुः
सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते
हृदये शोकशङ्कवः॥

वि० पु० १-१७-६६

आशय यह कि सन्त पुरुषों की पावन संगति में आने जाने वाले मनुष्यों को ही ऐसे सुविचार मिला करते हैं। यथा दैत्यराज हिरण्यकशिपु के लिये गगन मण्डल में वे ही सूर्य-चन्द्र-तारे बिजली और नक्षत्र नहीं थे जो भक्तराज प्रह्लाद के लिये थे? एक ही जल पवन-पृथ्वी-दिशायें अग्नि-पर्वत-और नदियाँ थीं परन्तु पिता के मन का "योग" केवल सांसारिक भोगों में था और प्रह्लाद ऊपर से सर्व साधारण मनुष्यों जैसा बर्ताव करता था किन्तु अन्दर से उसका "योग" यानी सुरति अपने इष्टदेव भगवान से जुड़ी हुई थी। इसे कहते हैं योग स्थित होकर सांसारिक जीवन को व्यतीत करना।

योगस्थः कुरु कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते॥

२-४८

हे महाभाग्य! तू अपनी सुरति को अपने इष्टदेव के चरणों में लगाकर कर्त्तव्य कर्मों को कर—उन कर्मों के फल पाने की इच्छा मत कर—सफलता मिले अथवा विफलता दु

किसी अपेक्षा की अपेक्षा मत कर—सब दशाओं में एक रस रहने को ही "योग" कहते हैं।

युक्तावस्था में रहता है प्रह्लाद और अयुक्तावस्था में स्थित रहता है उसका पिता हिरण्यकशिपु दोनों की जीवन घटनाओं में कितना महान अन्तर है।

एक विश्व में भक्तराज प्रह्लाद के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा दैत्यराज के शब्द से स्मरण किया जाता है। यही अन्तर रहता है एक गुरुमुख और एक मनमुख के जीवनों-द्देश्यों में।

परम शान्ति योग में है। परम पिता परमात्मा से योग न किया अपनी सुरति को शब्द रूपी ब्रह्म में न लगाया तो जीवन नीरस है। ऐसे मनुष्य को जिन्दगी का आधार क्या होगा? संसार, सांसारिक भोग, मनके विषय विकार, दुर्व्यसन, कुसंग आदि यह सब क्या है? धुयें के बादल-बालू की भीति-मृग-तृष्णा का जल-आकाश के फूल सब स्वप्न-जाल ही तो है।

ऐसा नहीं बनना है, श्री सद्गुरुदेव जी के चरणों में योग करना है। उनसे ही परम शान्ति की शीतल गंगा का उद्भव हो रहा है।

गुरुदेव की कृपा के बिना वाल्मीकि क्या था एक संसार का कीड़ा, रत्नाकार नाम का शिकारी और फिर डाकू गुरु वचनों को शिरोधार्य करने और उनके अनुसार आचरण करने से आज वह डाकू महर्षि वाल्मीकि बन गया। परमात्मा से योग करा दिया देवमुनि नारद जी ने। रत्नाकार का योगमय जीवन आज वाल्मीकि का योग ऐश्वर्यों का जीवन बन गया है।

यही योग होता है सत्पुरुषों का निर्गुण से सगुण बन कर इस भूमण्डल पर मानव रूप में अवतार लेने का। वे जन्म जन्म से अपनी बिछुड़ी हुई आत्माओं को अपने में मिलाने आते हैं।

## ॥ यो वै भूमा तत् सुखम् ॥

देह की कोठरी में हम कैद हैं। बंधन खुलने के लिए अंतरात्मा छटपटा रही है। शांति, समाधान खोज रही है। व्यापकता के अनुभव में ही शांति, सुख है।

सरोवर के जल के बीच रखा हुआ घड़ा। भीतर पानी, बाहर पानी—दोनों का मेल नहीं। घड़ा फूटा कि दोनों पानी मिल कर एकरस हो जाते हैं। वैसे हर पिंड में ब्रह्मांड में, व्याप्त जो सत्ता है, उसका स्पर्श देह के भीतर रहते भी हरएक जीवधारी को कुछ न कुछ निरंतर हो रहा है।

—उपनिषद्-सार

...ना कि इसका मूल विषय
...उदाहरण के लिए मैं कुछ
...है—
...सब निर्गुण,
...निरंजन और न भासै।
...है अंध करम,
...हिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
...मूल ब्रह्म जगि,
...साहब कह्यहि दासै।
...मत कोनहु,
...दुहि देखत ब्रह्म तमासै॥
...स की कहते हैं—
...से भई,
...हम ही सिरजनहार।

# संतमत में साधना

स्व० श्री सम्पूर्णानन्द

भारत के धार्मिक जगत के इतिहास में संतमत का एक विशेष स्थान है। संतमत उस प्रकार का सम्प्रदाय नहीं है जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं। वह एक धारा है, जो आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक बह रही है। सबसे पहले इसके सम्बन्ध में कबीर साहब का नाम उल्लेख्य है; फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि ने अपने-अपने समय में इस धारा को पुष्ट किया। बहुत से अंग्रेजों की और उनकी भांति सोचने वाले कुछ भारतीय विद्वानों की यह राय है कि संतमत एक संग्रहात्मक सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिन्दू धर्म, और कुछ बातें इस्लाम से लेकर मिला दी गई हैं। ये लोग संतों को सुधारक मात्र मानते हैं, उनका ख्याल है कि हिन्दू-मुसलमानों के आपसी झगड़ों को और दोनों में प्रचलित कुरीतियों को देखकर कुछ दयालु ईश्वर भक्तों ने समाज के कल्याण के लिए एक सरल मार्ग निकाला जिस पर दोनों सम्प्रदाय मिल जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वर की भक्ति का उपदेश किया, छुआ-छूत और जात-पाँत की निन्दा की, भूत-प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध किया, सदाचार की महिमा बतलाई, पीर, औलिया, कब्र की वन्दना से लोगों को रोका, हिन्दू-मुसलमान को मिलजुलकर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राह्मण थे, कुछ सम्भवतः हिन्दू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमें से शायद ही कोई जानता था। इसलिए इन्होंने अपने उपदेश हिन्दी में दिये। इस कारण पंडितों में इनका अप्रचार हुआ, पर जनता में खूब प्रचार हुआ। ये बातें कुछ हद तक सच हैं। संतों ने निःसन्देह एक ईश्वर की निष्ठा सिखायी, कुरीतियों का निषेध किया, भेद-बुद्धि का खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि यह समाज सुधारक थे। वे संत थे और संतों के उपदेशों में ये बातें स्वभावतः आ जाती हैं। इसलिए उनके दस धर्मों की पोथियों से सामग्री जुटाकर भानमती का कुनबा जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना ने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दुओं का राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गयी, देवस्थान

भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा, विद्या और कला के लिए स्फूर्ति का द्वार बन्द हो गया। मौलिक रचनाओं की जगह टीका ग्रन्थों ने ली। जीवित काव्यों के स्थान में परतन्त्र रजवाड़ों के दरबारों में पलने वाली अधम कोटि की शृंगारी तुकबन्दी की बेलें फूट पड़ी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्था में पड़ जाती, उसकी अधोगति का रुकना कठिन होता है। उसका तो शतमुख विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। पर अभी हिन्दू जाति के दिन अच्छे थे। उसकी आत्मा की अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमें से दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अँधेरे घरों को फिर से प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियों को अमृत पिलाकर पुनरुज्जीवित किया।

एक किरण तो भक्ति मार्ग की थी। इस मार्ग को तुलसी, सूर, मीरा आदि ने प्रशस्त किया। दुर्बलों से कहा गया कि हिम्मत मत हारो तुम्हारा बल भगवान् है। यहाँ तुम्हारी कोई न सुने, पर वह तो सदा तुम्हारे पास है। तुम्हारे दुःख-सुख का साक्षी है। तुम्हारी सुनता है, तुम्हारी भक्ति पर रीझ कर तुम्हारे लिए सब कुछ करता है और कर सकता है। जो आज विजित थे उनको उनके पूर्वजों के, राम और कृष्ण के गौरव की स्मृति दिलायी गयी, वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा रखते हुये ऊँच-नीच सभी के सामने भक्ति का थाल परसा गया। उपदेश की भाषा हिन्दी थी, इसलिए सब ने ही इस का आस्वादन किया। कुछ मुसलमान कुल में उत्पन्न व्यक्तियों तक पर इसका प्रभाव पड़ा। दीन-दुखिया हिन्दू जाति मरते-मरते बच गयी। मैं इस विषय पर विस्तार से लिख नहीं सकता, पर इतिहास ने ऐसा कई बार दिखलाया है कि विजित, दरिद्र, दुखी जातियों में भक्त-सम्प्रदाय और भक्ति साहित्य का उदय हुआ है। जितना भक्ति साहित्य हमारे देश में पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में निकला है, उतना पहले कभी नहीं बना। स्वतन्त्र आर्यों के, जो सभ्य जगत के गुरु और विशाल साम्राज्यों के स्वामी थे, मुँह से यह गाना कम ही निकल सकता था—'निर्बल के बल राम'! जो स्वयं बली था, वह उपासना काल में भी अपने को भूल नहीं सकता था, इसका प्रमाण उन ओजस्वी मन्त्रों में मिलता है, जिनमें वैदिक आर्य इन्द्रादि से बल या विजय का वरदान माँगते हैं। जहाँ भक्तिकालीन हिन्दू रोता गिड़गिड़ाता है, वहाँ वैदिक आर्य इसप्रकार बात करता है जैसे कि कोई अपने हक को माँग रहा हो और लेकर छोड़ने की सामर्थ्य रखता हो।

जाति की आत्मा से जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम संतमत है। इस आकाश के कुछ नक्षत्रों के नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ। यही लोग संत कहलाये। इन्होंने सगुण-साकार की उपासना के स्थान पर निर्गुण उपासना, योग और ब्रह्म विद्या का उपदेश

की ओर ध्यान आ...
जुलाहा, मोची, जन्म
ऊँची जाति वाले भी
इस मार्ग में एक
सच्चा जीवन केवल मु
है। उसका लक्षण है
सजीव प्राणी इस आत
कोई मुझपर आक्रमण
किसी प्रकार बचा लूँ
आगे बढ़कर आक्रमण
ने मुमुर्षु हिन्दू जाति में
ने सजीवता प्रदान की।
पड़े रहने के बदले मुसल
खुलकर निदर्शन होने
होता है, आत्म विश्वास

दिया। यों तो भक्ति मार्ग में भी ऊँच-नीच का भेद नहीं होना चाहिए। फिर भी उसमें जिन साधनों का प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि—वह बहुत को अप्राप्य है तुलसीदास ने कलियुग के लक्षणों का वर्णन करते हुए शूद्रों के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे यह प्रतीत होता है कि इन बड़े आचार्यों के भाव क्या थे। पर योगाभ्यास के लिए तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिए। पूजा की सामग्री के लिए पैसे नहीं चाहिए। इसलिए यह मार्ग सचमुच सबके लिए सुलभ, सुगम है। कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो ... की भीख न होगी इसलिए इधर
हुआ। नाई, धोबी,
मुसलमान भी आये,
।
विशेषता थी।
साँस लेने में नहीं
क्रिया भीमता।
बैठा रहता कि
में अपने को
...कारी पर
कि मार्ग

वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। इसी जनता में भी आत्म निर्भरता आयी। यही आत्म-निर्भरता ही एक बड़ी सिक्ख-संगठन और महाराजा रणजीत सिंह के राज्य के रूप में मिली।

इन बातों के साथ ही दो और बातों को भूल न जाना चाहिए। संतमत और भक्ति मार्ग कोई नये आविष्कार न थे। दोनों की परम्परा बहुत ही प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दोनों के बीच कोई ऐसी ऊँची दीवार न थी, जो एक मार्ग को दूसरे मार्ग से पृथक कर दे। पतंजलि ने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र में ईश्वर चिन्तन को भी योग का एक मार्ग माना है।

जो योगाभ्यास के मार्ग पर आरूढ़ होता उसमें भी उन अद्वेष्टादि गुणों का होना आवश्यक है, जो भक्त के लक्षण हैं। भक्त कि जब एकाग्रता प्राप्त होगी, तब उसको भी वे ही अनुभव होंगे, जैसे कि योगी को होते हैं। इस बात का प्रमाण हमको अपने यहाँ के आध्यात्मिक साहित्य में पूरा-पूरा मिलता है। एक ओर तो संतमत के आचार्यों की रचनाओं में ...योग वाक्य मिलते हैं, दूसरी

दास जी की रचना है।

दरसन दीजै राम सनेही,
तुमबिन दुख पावँ मेरी देही।
दुखित तुम बिन रटत निश दिन,
प्रगट दरसन दीजिए।
विनति सुन, प्रिय स्वामियाँ!
बल जाऊँ विलंब न कीजिए।
अन्न न भावै, नींद न आवै,
बार-बार मोहि विरह सतावै॥
विविध विधि हम भई व्याकुल,
बिन देखे जिव ना रहै।
तपत तन, जिव उठत ज्वाला,
कठिन दुख अब को सहै॥
नैनन चलत सजल जल धारा,
निस दिन पंथ निहार तुम्हारा॥
—इत्यादि

दूसरा सूर सागर से लिया गया है—

अपुनपौ आपुन ही में पायो।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो,
सतगुरु भेद बतायो॥
सूरदास समुझे की यह गति,
मन हीं मन मुसकायो।
कहि न जाये या सुख की महिमा,
ज्यों गूँगे

पर्याय हरि, माधव, गोपाल, राम आदि श
का प्रयोग किया है। इसका एक कारण
भी था कि कबीर साहब ने, जो आदि स
कहलाते हैं, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामान
जी से पहले पहल दीक्षा प्राप्त की थी।

जहाँ उक्त आध्यात्मिक सिद्धांत की बा
है संत लोग प्रायः सभी शांकर अद्वैतमत
मानते थे। 'प्रायः' मैंने इस लिए कहा है कि
किसी-किसी ने शुद्धाद्वैत मत और विशिष्टा
द्वैत मत का भी प्रतिपादन किया है। द्वैत
वादी इनमें से कोई भी न था। इस लेख
संतों के दार्शनिक विचारों की विवेचना करना
अप्रासंगिक होगा, क्यों
साधना है, फिर
अवतरण देता हूँ।
सुन्दरदास जी
ब्रह्म निरीह
ब्रह्म अखंडित
ब्रह्मा

हम ही सिरजनहार,
हम ही सिरजनहार, हम ही करता के करता।
लेकर करता नाम,
आदि में हम ही रहता ॥
—इत्यादि

यह वही भाव है, जो छान्दोग्य उपनिषद में 'अहं मनुर्भवं सूर्यश्च' इत्यादि से व्यक्त किया गया है।

दादूदयाल जी कहते हैं—
तनमन नाहीं, मैं नहीं,
नहिं माया नहिं जीव।
दादू एकं देखिये
दहु दिस मेरा पीव ॥

जीवन मुक्त के वर्णन अनेक स्थलों पर आये हैं। दृष्टान्त के रूप में मैं उनमें से दो को उद्धृत करता हूँ। पहले मैं चरणदास जी कहते हैं।

जब हो एक दूसरा ना वे।
बंध मुक्ति की रहे न सांसै ॥
मृतक अवस्था जीवत आवें।
करम रहित अस्थिर गति पावें ॥
जब कोई मित्र न, बैरी नाहीं।
पाप पुण्य की परें न छाहीं ॥
ग्यान दसा ऐसी करि गाई।
चरनदास सुकदेव बताई ॥

दूसरे में कबीरदास यों कहते हैं—
भाई, कोई सतगुरु सन्त कहावै,
नैनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत बिसरै,
जब उपदेश दृढ़ावै ॥
प्राण पूज्य क्रिया से न्यारा
सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूंधे, पवन न रोके,
नहिं अनहद अरुझावै ॥
यह मन जाय जहां लग,
जब ही परमातम दरसावै।
करम करे निःकारन रहै,
जो ऐसो जुगत लखावै ॥
सदा विलास त्रास नहिं मन में,
भोग में जोग जगावै।
—इत्यादि

एकाध को छोड़ कर सन्तों ने निश्चित रूप से पुस्तकें नहीं लिखी हैं। उनकी कुछ स्फुट रचनायें मिलती हैं। जिनको समय-समय पर उनके शिष्यों ने लिख लिया था। इनमें से जो गाने लायक है उनको 'शब्द' तथा शेष को—जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दों में है—'साखी' कहते हैं।

अब मैं इस लेख के मूल विषय 'साधना' की ओर ले आता हूँ। इतना तो पहले भी संकेत किया जा चुका है कि ये लोग योगाभ्यास को मोक्ष का साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है, दूसरे शब्दों में योग में सिद्धि प्राप्त होती है।

वैराग्य का उपदेश देने वाले पद सन्तों की बानियों से भरे पड़े हैं। मैं केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त समझता हूँ—

नाहक गर्व करे हो अंतहि,
खाक में मिलि जायेगा।
दिना चार का रंग कुसुम है,
झरि-झरि आखिर जायगा॥
बालुक मंदिल बहुत बार नहिं,
फिर पाछे पछितायगा।
रचि रचि मंदिल महल बनायो,
ता पर कियो है अवासा॥
घर में चोर रैन दिन मूसहि,
कहहु कहाँ है बासा।
पहिरि पटंबर भयो लाड़िला,
बन्यो छैल मदमाता॥
टेढ़े पाग फिरे सिर ऊपर,
छिन में करे निपाता।
... कुछ और नहि करे बावरे,
ठौर-ठौर चिस जाते॥
देवहर पूजत तीर्थ नेम व्रत,
फोकट को रंग राते।
कासे कहूँ काऊ संग न साथी,
बालक भये हैराना॥
कहै मसाल सं० पुर वासी,

[illegible] ई से
[illegible] ध में
[illegible] नो एक

साखी को उद्धृत करना काफी होगा—

तप के बरस हजार हों,
सतसङ्गति घड़ी एक।
तौ भी बराबरि ना करै,
शुकदेव किया विवेक॥

बिना एक अच्छे गुरु की सहायता के योगाभ्यास करना और उसमें सफलता प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन है। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिनको अनुभवी व्यक्ति ही समझा सकता है; बहुत सी ऐसी भूलें हैं जिनको वही आदमी दूर कर सकता है। कभी-कभी तो गलती कर देने से योगाभ्यास और मस्तिष्क के लिए भयावह परिणाम खड़े हो सकते हैं। उपनिषद् का उपदेश है कि—

स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

दुःख की बात यह है कि आजकल 'गुरु' शब्द तो चारों ओर मारा-मारा फिरता है, परन्तु इस बात की छानबीन नहीं की जाती कि जो लोग गुरु बनते हैं, वह ब्रह्मनिष्ठ हैं भी या नहीं। यदि सौभाग्य से सद्गुरु मिल जावें तो यह पुराना वाक्य सर्वथा सार्थक होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा
देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः
प्रकाशन्ते महात्मनः॥

सन्तों ने सत्गुरु महिमा में अनथक कलम तोड़ दी है। यहाँ पर तो थोड़े से ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—

बिनु सद्गुरु कोऊ भेद न पावा।
बरसों से आकाश लौं धावा॥
—चहुवन]

दादू काढ़े कालमुख,
अन्धे,लोचन देइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या,
जीव ब्रह्म करि लेइ॥
—दादू]

गुरु चरनन पर तन मन वारूँ।
गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ॥
—सहजोबाई]

सद्गुरु आदि अनादि है,
सद्गुरु मध्य अरु मूल।
सद्गुरु कूँ सिजदा करूँ,
एक पलक नहिं भूल॥
—गरीबदास]

सतगुरु मारा बान भरि
डोलत नाहिं शरीर।
कहु चुम्बक क्या कर सकै
सुख लागै नाहि तीर॥

सतगुरु मारा तान करे,
शब्द सुरंगी बान।
मेरा मारा फिर जिये,
तो हाथ न गहूँ कमान॥

ऐसा सद्गुरु धन इत्यादि का भूखा नहीं होता है। वह जिसको अधिकारी समझेगा उसको अवश्य ही सदुपदेश प्रदान करेगा। जो शिष्य बनने का हौसला रखता हो, उसमें अटल श्रद्धा और अथाह धीरता होनी चाहिए। उसको पलटू साहब यह परामर्श देते हैं—

पड़ा रहे सन्त द्वारे,
धका धनी का खाय।
कबहुँ जो धनी निवाजि है,
काज सहज होइ जाय॥

पतञ्जलि ने योग को अष्टांग कहा है। कुछ लोग उसको इस कारण षडंग भी कहते हैं कि यम-नियम केवल योगी को ही नहीं वरन् मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी हैं। संतों ने विशेष रूप से योग की कोई पोथी तो लिखी नहीं है। इसलिए षडंग-अष्टांग का शास्त्रीय विवेचन भी नहीं किया है। परन्तु जो बातें यम-नियम में परिगणित हैं, उन पर उन्होंने बहुत जोर दिया है। उदाहरणस्वरूप कबीर की कुछ साखियाँ देता हूँ—

जुआ, चोरी, मसखरी,
ब्याज, घूस, परनार।
जो चाहे दीदार को,
एती वस्तु निवार॥

कामी, क्रोधी, लालची,
इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोई सूरमा,
जाति बरन् कुल खोय॥

गोधन, गजधन, बाजधन,
और रतन धन खान।

जब आवै संतोष धन,
सब धन धूरि समान ॥
मन रे जाऊँ मागें नहीं,
अपने तन के काज।
परमारथ के कारनै,
मोहि न आवे लाज ॥
सांचे श्राप न लागिहैं,
सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिलै,
सांचे माहिं समाय ॥
पूछ, पसु, नर, पसु, नारि, पसु,
वेद पसु संसार।
मानुष सोई जानिए,
जाहि विवेक विचार ॥
निंदक नियरे राखिये,
आंगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, साबुन बिना,
निरमल करै सुभाय ॥

योगाभ्यास की कई रीतियाँ प्रचलित हैं उनमें तत्वगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने के अन्तर्मुख साधन के सम्बन्ध में है। पद्धति में भी इस प्रकार की कई रीतियाँ भिन्न-भिन्न विद्याओं के नाम से परिगणित हैं। प्रायः सभी सन्तों ने जिस प्रक्रिया का मुख्यतया उपदेश किया है, उसे 'सुरत शब्द योग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु संत-काल के पहले इसका स्थान इतने विस्तार से अवलम्बन नहीं हुआ। सुरत जिसे सुरति भी कहते हैं, स्रोत शब्द का अप-भ्रंश है। दर्शन ग्रन्थों में स्रोत का अर्थ है 'चित्तवृत्ति-प्रवाह' अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्द की धारणा की जाती है। अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द में लय किया जाता है। शब्द का किसी बाह्य मन्त्र से तात्पर्य नहीं है। शरीर के भीतर और शरीर के बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर हो रही है। जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकार का आघात किये हुए उत्पन्न हो रहते हैं। सन्तों ने इसे अनाहत कहा है। गुरूपदिष्ट मार्ग से अभ्यास करने से इस ध्वनि को ओर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे बढ़कर चित्त की वृत्ति बीच की भूमिकाओं को पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधिपद में सहज ही लीन हो जाती है। नाद बिन्दूपनिषद में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

ब्रह्मप्रणव सन्धानं नादो
ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा
मेघापायेंऽशुमानिव ॥
यत्र कुत्रापि वा नादे
लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा
तेन सार्धं विलीयते ॥

सर्वं चिन्तां समुत्सृज्य
सर्वचेष्टा विवर्जितः ।
नाद मेवानुसन्दध्यान्नादे
चित्तं विलीयते ॥
नियमान समर्थोऽयं
निनादो निशितांकुशः ।
नादो ह्यन्तरङ्ग सारङ्ग
बन्धने वागुरायते ॥

इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद में भी बतलाया है —

अनाहतं तु यच्छब्दं
तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु
स योगी छिन्नसंशयः ॥

शिवसंहिता आदि ग्रन्थों में भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्तवृत्ति के उपशम का वर्णन आया है—

इसी ध्वनि का आश्रय लेकर योगी के अन्तर में आदि-ध्वनि अर्थात प्रणव का अनुभव होता है। पतंजलि कहते हैं कि प्रणव अर्थात ओंकार ईश्वर वाचक है। ओंकार के अकार, उकार और मकार—इस प्रकार टुकड़े करके अनेक प्रकार से अर्थ किये गये हैं। योगी की दृष्टि में ओंकार आदि शब्द पञ्चभौतिक जगत का आदिम रूप, शब्द तन्मात्रा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार, इसीलिए पाञ्चभौतिक जगत में ईश्वर की पहली अभिव्यक्ति है। इसीलिए यह उसका वाचक या पवित्रतम् नाम कहा जाता है। श्रुति में प्रणव की अनेक प्रशस्तियां हैं। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ।
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ॥
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
तत्ते पदांसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म
एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा
यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
( कठोपनिषद द्वितीय वल्ली )

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में ओंकार को प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामों से पुकारा गया है उसी प्रकार सन्तों ने इसे प्रायः नाम या सतनाम ( सत्यनाम ) कहकर पुकारा है। सत्यनाम की अपार महिमा का उन्होंने भी बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नाद के परे जो भूमिका है, वह निःशब्द 'अनामी' लोक है। इस सम्बन्ध में कुछ अव-तरण देता हूँ।

ओंकार पानी अरु पवन,
सूर्य, चन्द्र धनि महि भवन।
ओंकार पूजा अरु मान।
ओंकार जप संयम ध्यान॥
ओंकार तप तीरथ दान,
ओंकार राचे सुर ग्यान।

ओ३म्कार गुरु अरु चेला,
ओ३म्कार रहु रासी मेला ॥
ओ३म्कार निरन्तर बानी,
जिन जानी तिन गुरुमुख जानी ॥
—नानक

सतनाम निजसार है,
अमर लोक को जाय।
कहु दरिया सतगुरु मिलै,
संशय सकल मिटाय ॥
—दरिया

मूलमंत्र निज नाम है,
सुरत सिन्धु के तीर।
गैबी बानी बरस में,
सुर नर धरै न धीर ॥
—गरीब दास

ता पर अकह लोक है भाई,
पुरुष अनामी तहां पहुँचाई।
जो पहुँचे जानेंगे वाही,
कहन सुनन से न्यारा है ॥
—कबीर

सन्तों ने सुरत शब्द योग को ही निदिध्यासन की प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसी को 'भजन' भी कहते हैं। अभ्यास करते-करते योगी को जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में अति संक्षेप में इस प्रकार हुआ है।

नीहारधूमार्कानलानिलानां,
खद्योत विद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि,
ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे।
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते,
पञ्चात्मके योग गुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥
—इत्यादि (अध्याय २)

इस विषय का नाद बिन्दु आदि उपनिषदों में किंचित अधिक विस्तार से वर्णन है। योगदर्शन के विभूतिपाद में 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इत्यादि सूत्रों द्वारा कुछ और विस्तार किया गया है। तन्त्र ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं अच्छा वर्णन आया है।

सन्तों ने भी इस अनुभव का वर्णन किया है और मेरा तो विश्वास है कि संस्कृत ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में इससे अधिक ललित भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। योगी को अभ्यास के प्रभाव से चतुर्दश भुवन में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती वह अणिमादि सिद्धियों का स्वामी हो जाता है। यह असंभव है कि जो अनुभव स्वसंवेद्य है, जो पद 'नेति नेति वाच्यम्' है, जहां मन और वाणी की पहुँच नहीं है, उसका वर्णन शब्दों में किया जा सके। हां, नीचे की कुछ बातें बतलायी जा सकती हैं—वे भी संकेतों द्वारा। इस वर्णन का भी रस उसी को मिल सकता है, जिसकी इस मार्ग में कुछ गति हो। दूसरा इतना ही

अनुमान कर सकता है कि किसी प्रकार की विचित्र और आनन्दमयी अनुभूति होती होगी। मैं नीचे कुछ अवतरण इस सम्बन्ध के भी देता हूँ। इनमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी आये हैं। इनमें से सभी योग विषयक संस्कृत ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

अनहद बाजदुन्दु घेई घेई बाजै।
सकल भुवन जाकी ज्योति बिराजै॥
ब्रह्मा विष्णु खड़े शिव द्वारे।
परम ज्योति सो करैं पुकारे॥
गगन मंडल में निरखन होय।
सतगुरु मिलैं तो देखैं सोय॥
आठ पहर जिन बुल्ला गावैं।
चकित भाव माथैं पर छावैं॥
—बुल्ला साहब

उलट देखो घट में ज्योति पसार।
बिनु बाजे तहं धुनि सब होवैं,
विगसि कमल कचनार॥
पैठि पताल सूर ससि बांधौ,
साधो त्रिकुटी द्वार।
गंग जमुन के वार पार बिच,
भरतु है अमिय करार॥
इंगला पिंगला सुखमन सोधौ,
बहत सिखर मुख धार।
सुरत निरत लै बैठ गगन पर,
सहज उठै झनकार॥
सोहं डोरि मूल गहि बांधौ,
मानिक बरत लिलार।
कहु गुलाल सतगुरु बर पायो,
भरो है मुक्ति भंडार॥
—गुलाल साहब

निर्वान निर्गुन नाम है,
जग लाग अनहद तान की।
बिमल ग्यान बिराग उपजै,
धसंत धार ध्यान की॥
ध्यान धरकै सिखर देखो,
सिकर रारंकार की।
जपत अजपा गगन देखो,
लखौ एक मसालची॥
बहिते घन्टा संख बाजै ये,
किंगरी सारंगी।
मधुर मुरली मध्य बाजै,
ज्योति एक बिराजती॥
यही है एक कथा निर्गुन,
दूसरी नहीं जानते।
जग जिवन प्रानहि सोधिकै,
छूटि जाहि आवागमन ते॥
—जगजीवन साहब

बाबा बिकट पंथ रे जोगी,
ताते छोड़ सकल रस भोगी।
परथम सिद्धि गनेस मनाओ,
मूल कमल की मुद्रा।
किलियम् जाप जपौ हरि हीरा,
मिटै करम सब छुद्रा॥
करम धाम पर सेस नाग है,
तासु होत उद्गारम्।

कोटिक चीत जनम जुग जोगी,
अवगत देस अपारम् ॥
नाभि कमल में नाद समाओ,
नागिन निद्रा मारो ।
दो फुनकार संखिनी बोली,
उलटे नाम विचारो ॥
हिरदै कमल सुरत का संजम,
निरत कला निरस्वासा ।
सोहं शिव संत पद खोजो,
ऐसे बड़ो तमाशा ॥
बाई कमल से हरहर बोलें,
षोडस कला जगानी ॥
यह तो भव मारग सतगुरु का,
पंथ सुख ब्रह्मज्ञानी ॥
त्रिकुटी मद्धें सुरत दरसै,
दो दल दरपन माहीं ।
कोटि जतन कर देखा भाई,
भीतर बाहर नाहीं ॥
वह तो शिव दोऊ से न्यारा,
कहो कहां ठहराये ।
सुख बेसुख मिलै नहीं भौरा,
कहाँ रहत घर पावे ॥
अनहद नाद बजाओ जोगी,
बिना चरन चल नगरी ।
माया काया छोड़ि चलोगे,
जाय बसो मन मगरी ॥
धरती धूल अंबर ले पाऊँ,
मेरुदंड पर मेला ।
गगन मंडल में आसन करहूँ,
दो सतगुरु का चेला ॥
तिस परमान बहुत दरवाजा,
तिस पाटी ले जाऊँ ।
चींटी के पग हस्ती बाँधूँ,
अजर धार ठहराऊँ ॥
दक्खिन देस में दीपक जोहूँ,
उत्तर धरूँ धियाना ।
पश्चिम देस में देवल हमारा,
पूरब पंथ पयाना ॥
पिंड ब्रह्मांड दोऊ से न्यारा,
अगम ज्ञान गोहराऊँ ।
दास गरीब अगम गति आवै,
सिद्ध सिद्ध मिलाऊँ ॥

—गरीबदास

आगासी सरु अखिवा नीर,
ता महं पवन बहुत विस्तीर ।
भौंरा लोभया ताकी गंध,
नानक बोलै विषमी संध ॥
बारह सोलह सम करि रहै,
आवणु जाणु निरालमु रहै ।
खेचरी डोरी सुधि पावै,
नानक कहै जोग इहै पावै ।
मेरुदंड मुद्रा करि राखै,
गुरु प्रसाद अमृत रस चाखै ।
दोनों अरराहु इकठी धरै,
नानक बोलै जीवत मरै ।

उलटै पौन उलटै काया
शबद अनाहद शब्द बजाया,
धुनि अंतर मनु राखै धीर,
नानक बोलै अउलि फकीर,
—नानक साहब

गगन के बीच में ऐन मैदान है,
ऐन मैदान के बीच गल्ली,
सहस दल कंवल में भँवर गुंजार है,
कंवल के बीच में सेत पल्ली।
इड़ा औ पिंगला सुखमना घाट है,
सुखमना घाट में लगी नल्ली,
सुन्न सागर भरा सन्त के नाम से,
तेहि के बीच में सुरति हल्ली,
आठ कुण्ड है तेहिके डारि में,
पड़ा हिंडोलना प्रेम झुल्ली।
अमीरस कुवं सोइ पियत एक नागिनी,
नागिनी मारिके कुंड रल्ली,
चक्र के नाल पर तहाँ एक ऊँच है,
तेहू के सीस चढ़ि जाति चल्ली,
जोति के बीच में तहाँ एक राह है,
राह के बीच में नाद चल्ली,
नाद के बीच में तहाँ एक रूप है,
रूप को देखिके रहु सल्ली,
दास पलटू कहै होय आनन्द अब,
सन्त को सहज समाधि भल्ली,
—पल्टू साहब

महरम को जाने साधो
ऐसा देश हमारा ॥
वेद कतेब पार नहि पावत,
कहन सुनन तो न्यारा।
जाति धरम कुल किरिया नाहीं,
संध्या नेम अचारा।
बिन जल बुन्द परत जहँ भारी,
नहिं मीठा नहिं खारा।
सुन्न महल में नौबत बाजै,
किंगरी बीन सितारा।
बिन बादर जहँ बिजली चमकै,
बिन सूरज उंजियारा।
बिना नैन जहँ मोती पोहै,
बिनु सुर शब्द उचारा।
जो चलि जाय कहा नहिं दरसै,
आगे अगम अपारा।
कहै कबीर वहै रहनि हमारी,
बूझै गुरमुख प्यारा।
—कबीर साहब

अन्त में मैं दो शब्द अपने दादा गुरु बाबा रामलाल जी के देना चाहता हूँ।

१- अरे फुलवारी करे मशाला,
दरसै अद्भुत ज्योति रसाला।
दसहुँ दिशा महँ दामिनि दमकै,
दहिने बाम रवि चंदा चमकै।
हंसिया चक्र त्रिकुटी रह छाई,
फनिपति रूप अपार दरसाई।
श्याम स्वरूप निरंजन झलकै,
दीप शिखा सम माया दमकै।
त्रिगुन त्रिदेव बहुत दरसाहीं,
रंग अरंग बरनि नहिं जाहीं।
कोटि कोटि ब्रह्मांड तमाशा,
रामलाल चढ़ि लखत अकाशा।

२- मूल बंध करि बंध बिचारी,
पट चक्रहि नव सोधहि नारी।
सोधिके मेरुदण्ड ठहराना,
सहज मिलावै प्रान अपाना।
बंक नाल गहे मन फूला,
बिहँसत अष्टकमल दल फूला।
पश्चिम दीसा लागि किवारी,
सतकुंजी सन सेह उघारी।
जस मकरीका तागा लागा,
बैठहि प्रेम बढ़े अनुरागा।
उलटा पवन चढ़े जस मीना,
है सतगुरु का मारग झीना।
अजपा जपा त्रिविध धुनि ध्याना।
सधि सबद महुँ पवन समाना।
आदि सबद अहै ऊँकारा,
उठै सब्द धुनि रारंकारा।
दसौं दिसा होवे उँजियारा,
झलकत जगमग जोति अपारा।
गंधि मिले जस गंध समाना,
छुँ झलमल्ल अमीरस पाना।
कालदण्ड नाहीं जम भासा,
देखत गैबी- गैब तमाशा।
जो जस चलें शून्य मिलि जाई,
तासार आवागमन नसाई।
रामलाल कोऊ बिरला पावा,
निरगुन धनी निसान बजावा।

मैं समझता हूँ इतने अवतरण पर्याप्त हैं।

जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इनका और इनके जैसे दूसरे पदों का रसास्वादन वही कर सकता है, जो इस मार्ग पर चल रहा है। जो मनुष्य अपने अनुभव के कारण या किन्हीं ऐसे महात्माओं के वचनों को प्रमाण मानने के कारण, जिनका उसको सत्सङ्ग प्राप्त हुआ हो योग को मोक्ष का उत्कृष्टतम साधन मानता है वह प्रकृत्या संतवाणी की ओर आकृष्ट होगा और ऐसा मेरा विश्वास है कि उसका इससे परम कल्याण होगा। आजकल ऐसा कहने का दस्तूर सा चल पड़ा है कि इस युग में योगाभ्यास नहीं किया जा सकता, और मुमुक्षुओं से दूसरे साधनों के नाम लिये जाते हैं, जो योग की अपेक्षा अधिक सुलभ और सुकर हैं। योग कठिन है, इसमें सन्देह नहीं पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़भूमिः।'

चित्त वृत्ति का निग्रह गीता के शब्दों में वायु के बाँधने के समान दुष्कर है, उसकी वृत्तियों का निरोध सहज नहीं हो सकता। निरन्तर सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है। पदे-पदे पतन की सम्भावना है। कबीर योगी के इस मानस रणक्षेत्र का इन शब्दों में अच्छा वर्णन किया है—

साध संग्राम है, विकट बेड़ा अहो,
सती और सूर की चाल आगे।

सती घमसान है पलक दो-चार का,
शूर घमसान पल एक लोग ॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना,
देह पर्यंत का काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग डोरी धरे,
उलट मन गगन से धरी आई ॥

इसलिए कोमल बुद्धि लोगों का, जो दोनों हाथ चाँदी चाहते हैं, किन्तु इस मार्ग से घबराना होगा। परन्तु क्या किया जाय? दूसरा वास्तविक मार्ग है भी नहीं। आज से दो हजार पहले की बात है। एक मिस्री राजकुमार रेखागणित पढ़ रहा था, उसने घबराकर अपने अध्यापक से पूछा 'क्या इन सूत्रों के सीखने का कोई सरल उपाय नहीं है?' उत्तर मिला नहीं, नरेशों के लिए रेखागणित सीखने का कोई अलग मार्ग यहाँ नहीं है।' इसी प्रकार मुमुक्षुओं के लिए भी कोई सरल मार्ग नहीं है। हाँ अधिकार भेद से अनेक प्रकार के यज्ञ, याग, जप, पूजा आदि उपासना-पद्धतियाँ हैं जिनसे सत्व की शुद्धि होती है अर्थात् क्रमशः पावनत्व प्राप्त करता है। इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती। इनमें से कई तो योग के अङ्गोपाङ्गों के पर्याय मात्र हैं—जैसे नियमों में परिगणित ईश्वर प्रणिधान की भक्ति मार्ग से महिमा गाना। भगवती श्रुति भी किसी दूसरे मार्ग का प्रतिपादन नहीं करती। संतमत के आचार्यों ने दिखला दिया है कि इस युग में भी यह द्वार पहले की ही भाँति खुला है।

सिद्धियों की प्राप्ति भी योग का एक परिणाम है पतञ्जलि जी कहते हैं—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'

सन्तों ने भी इसी दृष्टि से सिद्धियों की निन्दा की है, पर उनकी ओर संकेत भी किया है। उनकी विभूतियों की बहुत सी कथाएं प्रसिद्ध हैं। पर इन बातों का उल्लेख करना मैं अनावश्यक समझता हूँ।

प्रेषक:

—श्री वीरेन्द्र सिंह

## ❀ श्री गणेश वंदना ❀

श्रीगणेश गौरीसुत गणपति गजानन,
विघ्ननि निवारिबो तो आपको ही काम है।
ध्यान ही धरे ते जाके मंगल ही मंगल हो,
देखो तो प्रथम पूज्य आप को ही नाम है।
वक्रतुण्ड महाकाय शिव के सपूत आप,
आप की ही गोद ऋद्धि-सिद्धियों का धाम है।
एक दंत दयावंत ज्ञानी वरदानी-देव,
वंदनीय आप को प्रणाम है प्रणाम है ॥

—श्री रामप्रकाश अनुरागी

# श्रीमद् भगवत् गीता : एक अध्ययन

प्रेषक—श्री शिवनारायण लाल

वर्तमान में संसार में धर्मों, पन्थों, मतों, सम्प्रदायों के अपने निजी धर्मों, सिद्धान्तों, विचारकों के साहित्य की एक लम्बी तालिका है उसके साथ, योगी योगाश्रम, साधु-संन्यासियों की भी उतनी ही लम्बी श्रृंखला है जो एक ही परमात्मा और उसके पाने के मार्ग का विविध विधि-विधानों द्वारा वर्णन करते और अपने विधान को मान्य ठहराकर अन्य सभी विधानों को नकारते हुए सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और उस दुराग्रह के फलस्वरूप उससे इस प्रकार बँध जाते हैं कि उससे परे कुछ और भी है इसे न तो देखते हैं न देखना पसन्द करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि सभी के विचारों में परस्पर भारी विसंगति पायी जाती है, तो भी उनका यह दावा रहता है, कि वही सच्चे मार्ग के मानने वाले हैं।

भारतीय आध्यात्मिक वैज्ञानिकों की प्रमुखतः दो श्रृंखला है। एक है आदि-ज्ञान का बीज-भण्डार-वेद, दूसरी है वेदों में निहित आदिज्ञान के बीजों को फसल के रूप में किसान की भाँति विकसित करने वाला उपनिषद साहित्य। इन श्रेणियों के सिवाय एक अन्य श्रृंखला भी है, वेदों के प्रतिनिधि के रूप में 'वेदान्त दर्शन' और श्रीमद्भगवद् गीता उन सभी के समन्वित रूप में आती है। अतः गीता को सभी उपनिषदों, वेदों और वेदान्त का मथित नवनीत कहा गया है। इतने पर भी गीता के देशी और विदेशी भाष्यों, निबन्धों की संख्या सर्वाधिक होते हुए भी वे सब परस्पर एक नहीं, इसका मूल कारण भाष्य में भाष्यकार बोलता है, गीता नहीं, क्योंकि गीता तो एक है-किन्तु भाष्यकार अनेक और उनके विचार भी साम्प्रदायिक दुराग्रह पूर्ण हैं, कोई अद्वैत, कोई द्वैताद्वैत, कोई विशिष्टाद्वैत और कोई कुछ, अपनी रचित रचनाओं में तोड़-मरोड़ कर अपना समर्थन सिद्ध करते अथवा पाण्डित्य प्रदर्शन करते हैं। वे सभी गीता ज्ञान को समझने या समझाने में भारी उलझन पैदा करते ही हैं।

अभी तक लोगों की विचारधारा भी ऐसी ही बनी हुई है कि जिस किसी सद्ग्रन्थ या सदुपदेश को वे आदर देते हैं उसी को सर्वथा ब्रह्मवाक्य मानते हैं और उसी रूप में उसे दूसरों पर भी लादने का आग्रह करते हैं, कहते हैं कि यह सार्वभौम सत्य है, इसके सिवाय शेष अधूरा है या केवल एक ढोंग है।

अतः गीता, वेद, उपनिषद के ज्ञान क्षेत्र में उतरने से पूर्व हमें यह निश्चय करना होगा कि इस क्षेत्र से हमें क्या पाना है और किस

विशिष्ट भाव से हमारा सङ्कल्प है कि जो मानव जातियां उसकी भावी पीढ़ी को कौन सा वास्तविक लाभकारी होगा। हमारा ध्येय उस परम सत्य को ढूंढ रहा है जो सनातन है। किसी के अधिकार क्षेत्र में न होकर एक स्वतन्त्र चिंतन का विषय है। अवश्य ही उसे किसी धर्मग्रन्थ की सीमित पेटी में, किसी दर्शनशास्त्र के सीमित दृष्टि-कोण में बन्द नहीं किया जा सकता। हमारे विचारों को और आगे ले जाने में उससे सहायता ले सकते हैं किन्तु हमारे स्वतन्त्र विचारों का मार्ग खुला है और उस पर चलने को हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

और ऐसा भी नहीं है कि वह परमसत्य किसी एक गुरु, मनीषी, पैगम्बर या अवतार के मुख से पूर्ण रूप से कहा गया हो, क्योंकि सिवाय उस परम सत्य के कोई पूर्ण नहीं है। मनुष्यकृत ग्रन्थ और मानुषी शक्ति सर्वदा अपूर्ण ही रही है यही कारण है कि इनकी लम्बी तालिका है।

सभी कुछ समय के साथ चलता है समय तो गति करता ही रहता है टिकता नहीं। इसी तरह जो विचार आज पूर्ण अथवा पूर्ण सत्य जान पड़ते हैं। कुछ काल के अन्तराल पर वही अधूरे लगने लगते हैं। और उनका स्थान नये विचार, नई परिभाषाएं, नये मानदण्ड लेकर उन्हें निरर्थक बना देते हैं अतः परमसत्य तो एक ही है और वह निर्विकल्प है, निर्विकार है। शेष सब कुछ परिवर्तनशील है।

गीता किसी सम्प्रदाय से जुड़ी नहीं है। यद्यपि सम्प्रदायवादियों ने अपनी बौद्धिक सामर्थ्य से समस्त व्याख्याएं की हैं तो भी इसने अपने मूलरूप और दृष्टिकोण बनाये रखता है। यह मात्र दार्शनिक या पाण्डित्य पूर्ण कविता का ही ग्रन्थ न होकर यह एक सजीव ग्रन्थ है। इसके विचार निश्चय मानव मात्र और संस्कृति को पुनरुज्जीवन देने वाले हैं।

अब यह विचारणीय है कि गीता में यह कौनसा तत्व है जो गीता के सत्य विचारको यह जीवनी-शक्ति प्रदान करता है? आध्यात्मिक सत्य और जीवन के अधिकतम रहस्य सूत्र गीता में विद्यमान हैं और हम एक विशाल प्रेरणात्मक जीवन तथा पथ-प्रदर्शन के लिए इसकी ओर उन्मुख हो सकते हैं। गीता के दार्शनिक सिद्धान्त और योग का केन्द्रीभूत वह यह है आन्तरिक आध्यात्मिक सत्य की पूर्ण एवं समग्रतम अनुभूति के साथ मानव-जीवन तथा कर्म की बाहरी वास्तविकताओं की सङ्गति करते हुए उनका समन्वय योग करना। गीता का आरम्भ इसी भावना से हुआ है। गीता मानव रूप में अवतरित परमात्मा और मानव शिष्य जो मानव जाति का प्रतिनिधि है निःसन्देह गीता एक कर्म योग शास्त्र है जो भक्ति, कर्म और ज्ञान का समन्वय करता हुआ कर्म को ज्ञान में समाप्त करती है। 'ज्ञाने परिसमाप्यते' जो भक्ति से

प्रेरित होकर ज्ञान से जुड़े ही हैं, यह उन कर्मों की चर्चा नहीं करती जिसे आज का बुद्धिवादी कर्म कहता है जो अहंकारपूर्वक परोपकार की भावना से, व्यक्तिगत, सामाजिक, मानव-हितार्थ, कुछ उद्देश्यों, सिद्धान्तों और आदर्शों से प्रेरित होते हैं, गीता इन तीनों में समन्वित होकर, अपनी शैली से अपने प्रवचन का क्रम चलाये रखती है।

गीता प्रसङ्गानुसार कहीं ज्ञान पर, कहीं कर्म पर, कहीं भक्ति पर बल देती हुई अपने समन्वय का अस्तित्व बनाये रखती है। ज्ञान, कर्म और भक्ति की उसकी अपनी परिभाषाएं हैं। वर्तमान सर्व साधारण की अवधृत परिभाषाओं को प्रचलित परिपाटी के दृष्टिकोण से ऊपर उठकर ही उन्हें समझा जा सकता है। गीता का अध्यात्म, योग, संयम, यज्ञ, सांख्य आदि सभी कुछ स्वतंत्र होते हुये भी किन्हीं मतपन्थों का विरोध नहीं करता अपितु उनका समन्वय करता हुआ उन्हें आत्मसात् कर अपने नये अर्थों में नये परिवेश में सर्वकालिक विचार धारा में प्रस्तुत करता है। गीता की यह अद्भुत महानता है जिसपर कालपरिवर्तन प्रभाव-हीन रहता है और गीता का सर्वदेशीय, सर्व-कालिक अस्तित्व अस्खलित बना रहता है।

अतः गीता के सन्देश को, उस मानव गुरु भगवान की वाणी के उपदेश को संक्षेप में यों समझ सकते हैं" कर्म का रहस्य समस्त जीवन और विश्व के साथ एकता रखता है। यह संसार न केवल प्रकृति का एक नियम चक्र या यंत्र है जिसमें जीवात्मा स्वल्पकाल अथवा दीर्घकाल के लिये फंसा हुआ है बल्कि परब्रह्म परमात्मा की एक अनवरत् अभिव्यक्ति है। जीवात्मा के शरीर केवल जीवन धारण करने मात्र के लिये नहीं हैं, अपितु परमात्मा के लिये हैं क्योंकि वह परमात्मा का सनातन अंश है। इसलिये गीता के कर्म, ज्ञान और भक्ति का उद्देश्य, केवल वर्तमान या सम्भावित भावी जीवन के भविष्य कालमें उत्पन्न होने वाले बाहरी और दृश्य फलों को प्राप्त करना न होकर "आत्म-प्राप्ति, आत्मपरिपूर्णता, और आत्मानुभूति है। कर्म का उच्चतम, निर्दोष तथा त्रिकाल-सत्य विधान अपनी उच्चतम और अन्तरतम सत्ता के सत्य को खोज निकालना और उसमें निवास करना है न कि किसी बाहरी आदर्श एवं धर्म का अनुसरण करना। गीता केवल अपने सच्चे आत्मा, उसके यथार्थ सत्य और स्वरूप के अनुसार जीवन व्यतीत करने से ही जीवन समस्याओं को सुलझाने की चर्चा करती है, जिससे कठिनाई और संघर्षों पर विजय प्राप्त की जा सकती है तभी कर्म दिव्य कर्म बन जा सकते हैं।

इसलिए गीता की शिक्षा है 'अपने आत्मा को जानो, उसे ही ब्रह्म समझो, अन्य सभी आत्माओं में वही अंश है सर्वगुणात्म

सूत्रात्मा अपने समस्त कर्म उसी को अर्पण कर तटस्थ रहो—जो तुम्हारे बाहर और भीतर एकतत्व रमण कर रहा है। जो कुछ भी तुम हो और जो कुछ भी तुम करते हो उस सभी को दिव्य भगवान के हाथों में सौंप दो ताकि वे संसार में तुम्हारे द्वारा अपनी इच्छा और लीला में कर्मों को सम्पन्न कर सकें।

गीता समस्त रहस्यों का गुह्यतम रहस्य, ईश्वर का उच्चतम, स्पष्ट और सीधा सन्देश है जिसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति परम समुच्चय में एक हो जाते हैं, उनके समस्त सूत्र एकहो जाते हुए गूँथ जाते हैं। इससे एक व्यापक तादात्म्य सम्पन्न होता है।

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु,
मामेवैष्यसि सत्यं ते
प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।
सर्वधर्मान्परित्यज्य
मामेकं शरणं व्रज,
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अतः गीता को गीता के दृष्टिकोण के साथ आधुनिक परिवेश में, वर्तमान विकासशील, व्यवहार्य विचार धारा के चश्में से देखना होगा, तभी हम मानव, भगवान की गुह्यवाणी का रहस्य समझ सकते हैं।

## ❀ ऊँचा रखिए विचारों को ❀

पशु और मनुष्य में जो फरक है, वह इतना स्पष्ट है कि किसी मनुष्य को पशुसम जीवन जीते हुए देखते हैं, पशु की क्रिया करते हुए देखते हैं, तो कहना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन की रचना मनुष्य योग्य बनायें। हमें चाहिए कि हम, हमारे विचार उच्च स्तर पर रखें, उन्हें गिरने न दें। अन्यथा न्यूयार्क जैसे बड़े-बड़े शहरों में रहने वालों के जैसी हालत होगी। लोगों को गाँव छोड़कर शहर में रहने की इच्छा होती है। लेकिन शहर में कितने लोग रह सकेंगे? उसका विस्तार कितना बढ़ाया जा सकता है? मर्यादा आ जाती है। फिर वे तरकीब सोचते हैं। मंजिलों पर मंजिलें बनाते हैं। सौ-सौ मंजिलों की इमारतें इतने ऊँचे रहते हैं, लेकिन दृष्टि नीचे ही रहती है। क्या कारण है इसका? वे जो लोग ऊपर रहते हैं, वे वहाँ ऊपर की हवा का लाभ लेने के लिए नहीं रहते, उच्च विचार रूपी जीवन का स्वाद लेने के लिए नहीं रहते, उनकी दृष्टि तो नीचे के बाजार की तरफ ही होती है। हमारी ऐसी स्थिति न हो। हमारा सिर ऊँचा है तो विचार भी ऊँचे होने चाहिए। —रघु

# नाम महिमा-सन्तों की दृष्टि में

श्री रामवृक्ष त्रिपाठी

इस संसार में हम दौड़-धूप परिश्रम करते हैं कि हमें सुख मिल जावे। सारी भाग-दौड़, जोड़-तोड़ सुख की तलाश में करते हैं और अन्त में मिलता क्या है—दुख, निराशा और कुण्ठा। कभी-कभी ऐसा लगता है कि सुख नाम की चीज है ही नहीं। परन्तु जब हम श्री तुलसीदास, नानकदेव, कबीरदास जी आदि सन्तों का अनुशीलन करते हैं तो लगता है सुख का अस्तित्व है, और उसे प्राप्त भी किया जा सकता है। इस सुख प्राप्ति का जो मार्ग नाम जप इतना सरल है कि आधुनिक सभ्यता वाले मस्तिष्क में यह बात आ ही नहीं पाती कि ऐसा भी हो सकता है। सन्त नानकदेव के शब्दों में—

सत श्री अकाल,
बोले सो निहाल :

प्रभु का नाम लेने वाला आनन्द-मग्न रहता है। सन्त कबीरदास जी कहते हैं :—

दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय।।

कबीरदास जी की नजर में दुख का कारण यही है कि सुख के दिनों में हम प्रभु का नाम स्मरण नहीं करते। कबीरदास जी अपने ढंग से पुनः कहते हैं।

राम न रमसि कवन दण्ड लागा।
मरि जइबे का करबे अभागा।।

गोस्वामी तुलसीदास जी के अनुसार—

सकल दोष, दुख दास दुरासा।
दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा।।

भक्त के दोष, दुख तथा दुश्चिन्ताओं का नाश उसी प्रकार नाम करता है जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का नाश करता है। इस लिए गोस्वामी जी बड़ी मधुर सलाह देते हैं :—

राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु जो चाहसि उजियार।।

राम नाम रूपी मणि जीभ पर रखो जो देहरी और स्थान है। यहां से अन्दर और बाहर दोनों तरफ उजाला रहेगा। अन्दर और बाहर उजाले से तात्पर्य आध्यात्मिक एवं भौतिक सम्पन्नता से है।

नाम और इसके महात्म्य के बारे में गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में बहुत अच्छा विवेचन किया है। जिह्वा के बारे में गोस्वामी जी का कहना है:

अगुन, सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा ।
अकथ, अगाध अनादि अनूपा ॥

ब्रह्म का स्वरूप अकथनीय, अनादि एवं अगाध है। ऐसे ब्रह्म को जाना कैसे जाये । गोस्वामी जी के शब्दों में—

अगुन, सगुन बिच नाम सुसाखी ।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥

ब्रह्म के निरगुण एवं सगुण दोनों रूपों के बीच नाम एक सतर्क सा ही स्वरूप है । यह दोनों का ज्ञान कहने वाला चतुर दुभाषिया है वह ब्रह्म जो अकथ, अगाध है, उसका प्रबोध कराने वाला नाम है। नाम के सहारे अगम ब्रह्म सुगम हो जाता है।

देखिअहि रूप नाम आधीना ।
रूप ज्ञान नहि नाम बिहीना ॥
रूप बिशेष नाम बिन जाने ।
करतल गत न परहि पहिचाने ॥
सुमिरिहि नाम रूप-बिन देखे ।
आवत हृदय सनेह बिसेषे ॥

हाथ में रखी हुयी वस्तु का यदि नाम नहीं मालूम है तो पहचान में नहीं आती है। लेकिन यदि रूप न देखा रहे और नाम स्मरण किया जाये तो हृदय में विशेष आनन्द का संचार होता है।

ब्रह्म के सगुण निर्गुण दो स्वरूप है। तुलसीदास जी की नजरों में—

मोरे मते बड़ नाम दुहूते ।
किये जेहि जुग निज बस बूते ॥

नाम ने अपने बल से ब्रह्म के दोनों स्वरूप को अपनी मुट्ठी में कर रखा है। यह नाम का प्रताप और प्रभाव है। गोस्वामी तुलसीदास कह उठते है —

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहि नाम गुन गाई ॥

नाम के प्रताप और प्रभाव का वर्णन भगवान स्वयं नहीं कर सकते।
और अन्त में सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी अपना स्पष्ट निर्णय देते हैं।

ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि ।

जो कार्य ब्रह्म राम नहीं कर सकते हैं उसकी पूर्णता की क्षमता नाम में है। इसलिए अपने स्वर्ग और अपवर्ग के लिए मनुष्य को नाम जप का आधार लेना चाहिए।

# मोगरा खिला है

❀ सु श्री उषा कुमारी

मोगरा खिला है।
उसकी सुगंध से वातावरण महक उठा है।
देख रही हूँ फूल को,
सुगंध तो कहीं दीखती नहीं !

इस नाजुक, शुभ्र चित्तवेधक मूर्ति में
कहाँ छिपी है सुगंध ?
सुगंध है तो मोगरे की ही,
इसमें कोई संदेह नहीं।
मोगरे को वहाँ से हटा लो,
सुगंध भी हट जायेगी।
किंतु मिट्टी को गुणगंधा कहा है।

तो फिर वह सुगंध किसकी है ?
मोगरे की या मिट्टी की ?
मिट्टी की ही है;
तो पास खड़ा गुलमोहर क्यों नहीं बिखेरता सुगंध ?
गुलमोहर के बीज में चाह नहीं थी
सुगंध बिखेरने की।
उसको तो छायादार वृक्ष बन कर छांव फैलानी थी।
और फूलों की रंगछटाओं से सज-धजना था
तो उसने वह रूप पसंद किया।

महत्व है बीज की चाह का।
मिट्टी सबको अपनी-अपनी
चाह के अनुसार
विकसित होने का अवसर देती है।
किसी बीज में से वटवृक्ष निर्माण होता है
तो किसी में से तुलसी का पौधा।
बहनें वटवृक्ष की प्रदक्षिणा करती हैं
और, आंगन में तुलसी-पौधा लगा कर
उसे भक्तिपूर्वक वंदना करती है।
संध्या समय वहाँ दीप भी जलाती है।

बबूल और तुलसी दोनों के बीच में
पवित्रता का वह तत्त्व किसने पनपाया ?
आकार या विग्रहणा, रूप रंग-रस-गंध सबके अपने-अपने ।
किन्तु पवित्रता क्या आरोपित है ?
उसका बोध के साथ कोई संबंध नहीं ?

ऐसा है तो क्यों नहीं गुलाब की पूजा होती ?
वह तो है सौंदर्यराज, सुगंधसम्राट, सबका प्यारा !
किन्तु उसकी पूजा नहीं की जाती !
और मामूली-सा तुलसी का पौधा !
उसके पास लोग सिर झुकाते हैं
गुलाब का फूल पूजा की सामग्री बन सकता है,
स्वयं पूजनीय नहीं ।

आध्यात्मिक परिभाषा में, गुलाब भी ईश्वरी विभूति है
और तुलसी भी ईश्वरीय विभूति है ।
वैज्ञानिक पृथक्करण करेगा तो
दोनों के पृथक्-पृथक् गुणधर्म पायेगा ।
किन्तु उस पृथक्करण में
पवित्रता नाम का कोई तत्त्व नहीं पाया जायेगा ।

कहां से आती है वह पवित्रता ?
मनुष्य-चित्त में उसका बीज बोया किसने ?
कब बोया ? कैसे बोया ?
मनुष्य के अहं को व्यापक होने की इच्छा हुई
और उसी प्रक्रिया में वह परंपरा चल पड़ी
तुलसी को पवित्र मानने वाला चित्त
एक न एक दिन
हर वृक्ष को पवित्र पूजनीय मानेगा ।
गाय को पवित्र मानने वाला चित्त
एक न एक दिन
प्रत्येक प्राणी को पवित्र पूजनीय मानेगा
तुलसी प्रतीक है वनस्पति-सृष्टि का ।
गाय प्रतीक है प्राणिसृष्टि का ।

( शेष ४२ वें पृष्ठ पर )

# योग ही क्यों ?

श्री योगेन्द्र नारायण

किसी भी बात को यदि हम जन-सामान्य के लिए उपयोगी बताते हैं तो पहला प्रश्न उठता है—आखिर यह क्यों ? ऐसी ही बात योग के सम्बन्ध में भी है। आज समाज में जो अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता आदि कुभावनाएं बढ़ती जा रही हैं इनका एकमात्र निदान योग ही है। योग द्वारा मानसिक स्थिति स्वस्थ होकर स्वस्थ विचारों को जनती है। फलस्वरूप स्वस्थ एवं समाजोपयोगी भावनाओं का विकास होता है। 'योग ही क्यों'—अर्जुन द्वारा पूछे जाने पर भी भगवान ने गीता में कहा—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्मात् योगी भवार्जुन॥

अर्थात् योगी, तपस्वी ज्ञानी, कर्म करने वाले से भी श्रेष्ठ है। इसलिए तू योगी बन। तुलसीदास ने तप को ही श्रेष्ठ साधन बताया है किन्तु योग तप से भी श्रेष्ठ है—

जनि अचरज करहु मन माहीं,
सुत तप ते दुर्लभ कछु नाहीं।
तपबल ते जग सृजइ बिधाता,
तपबल बिष्णु भये परित्राता॥
—रामचरित मानस]

ज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा गया है भगवान स्वयं कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते
—गीता]

कर्म के लिए भी—

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा,
जो जस करइ सो तस फल चाखा।
—रामचरित मानस]

तप, ज्ञान, कर्म ये तीनों ही स्वयं में सुधारक तत्व हैं किन्तु योग को इन से भी श्रेष्ठतर बताया गया है।

आज के युग में, प्राचीनकाल के समान स्वस्थ रहना परमावश्यक माना गया है—इसी हेतु प्रभु से हम मांगते थे —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया

अर्थात् हम सब सुखी और निरोग रहें। योगी अस्वस्थ होता ही नहीं। नाना प्रकार की बीमारियाँ योगासनों से भी प्रभुजी ने ही दूर कराई हैं। वाराणसी में ही श्री सत्येन्द्र जी को गले का कैंसर हो गया था। दिल्ली आदि के अस्पतालों से जवाब मिल चुका था। गुरुजी की कृपा एवं योगासनों से ६०% लाभ है। हमने स्वयं देखा है। बताने की बात नहीं। आहार-विहार, यम, नियम आदि योग के मूलाधार हैं। यथा—

Helthy body Helthy minn.

योग प्राचीनतम् विद्या है। हमारे पूर्वानुवर्ती ऋषियों और देवों ने इसे श्रेष्ठतम माना है। इसका लाभ जाना है, सीखने की कोशिश की है तो क्या वे मूर्ख थे जो आज तक इस विद्या को ढोये आ रहे हैं—गीता से इसकी प्राचीनता एवं उपयोगिता की पुष्टि होती है।

इमं विवस्वते योगं
प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह
मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ॥
एवं परम्परा प्राप्त
मिमंराजर्षयो विदुः ।
स एवायं मयातेऽद्य
योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
गीता अध्याय-४-१-३ ]

और तो और योग भ्रष्ट व्यक्ति की क्या स्थिति होती है इस सम्बन्ध में पूछने पर अर्जुन ने श्री भगवान से पूछा—

अयति श्रद्धयोपेतो
योगाच्चालित मानसः ।
अप्राप्य योग संसिद्धि
कां गति कृष्ण गच्छति ॥

बहुत ही दृढ़तापूर्वक भगवान ने बताया—

पार्थ नैवेह नामुत्र
विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद्
दुर्गति तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव
कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्मयदी दृशम् ।

इस प्रकार सर्व पुरातन, सर्वसुलभ, सर्व हितकारी, सर्व कल्याणकारी है इस हेतु अवश्यमेव ग्राह्य है। आज देश में अनुशासन हीनता और उच्छृंखलता का वातावरण व्याप्त है गीतामय योगाचरण ही उसके निराकरण का एकमात्र उपाय है। निष्काम कर्त्तव्य-पालन की भावना यदि देश के जन मानस में भरा जाय तो फिर न भ्रष्टाचार रहेगा और न दुराचार।

---

सङ्गति कीजे साधु की, हरे और की व्याधि।
ओछी सङ्गति क्रूर की, आठो पहर उपाधि॥
काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करेगो कब॥

—सन्तकबीर]

औपनिषदक लघु कथा—

# विजय किसको ?

श्री नानाभाई भट्ट

"कहाँ, क्या मातरिश्वा अभी तक नहीं आये ? जातवेदा भी दिखायी नहीं पड़ते ?" इन्द्रासन पर आरूढ़ होते हुए देवराज बोले।

"अग्निदेव तो ये आ रहे हैं।" पूषा ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

"जी,मुझे थोड़ी देर हो गयी, वायुदेव अभी आते ही हैं।" अग्नि ने अपना आसन ग्रहण करते हुए कहा।

देवराज इन्द्र अग्निदेव की ओर देख कर बोले, "आपकी और वायु की सहायता के कारण अब की बार हम असुरों को पराजित कर सके। आपके बिना यह संभव न था।"

अग्नि ने उत्तर दिया, "हमने तो अपनी शक्ति देवराज के चरणों में चढ़ा दी है। जैसे जब असुरों ने घोर कोलाहल के साथ पहली बार आक्रमण किया, तब तो हमने भी सोचा कि अब देवों का पुण्य समाप्त हुआ।"

"लीजिए, ये वायुदेव भी पधारे।" वरुण

( पृष्ठ ३९ का शेष )

मनुष्य अपने ही में सीमित रहना नहीं चाहता।
वह तो व्यापक बनना चाहता है।
व्यापक बनने की उसकी यह चाह, यह उत्सुकता
तुलसी को पवित्र और गाय को पूजनीय मानती है।
और वह यहीं रुक जाना नहीं चाहती।
उसे आगे-आगे बढ़ना है।
मानव को, प्राणियों को, वृक्ष-वनस्पतियों को
चराचर सृष्टि को
अपने आश्लेष में समा लेना है।
अनादि काल से मानव की यह चाह रही है,
अनंतकाल तक रहेगी।
मोगरा खिला है
और उसकी सुगंध
इसी बात का रहस्योद्घाटन कर रही है।

ने द्वार की ओर दृष्टि डालते हुए कहा।

"पधारिए वायुदेव," इन्द्र ने आसन दिया।

"क्या चर्चा चल रही है, महाराज ?"

"विजयोत्सव के समय और क्या चर्चा हो सकती है ? बात तो हम सबकी और खास कर आपके पराक्रम की चल रही है।"

"इसमें हमने विशेष कुछ नहीं किया। यदि ऐसे समय भी हमारा बल काम न आये, तो फिर उसका उपयोग क्या ?" मातरिश्वा ने थोड़े गर्व से कहा। 'पूछिए इन अग्निदेव को। उन महासुरों को मारने में हम पर क्या बीती थी।"

इस प्रकार देवसभा में चर्चा चल रही थी कि इतने में द्वार के समीप एक आकृति दिखलायी दी, और इन्द्र का ध्यान अचानक उस ओर गया।

"वहाँ द्वार पर कौन है ?"

पूषा ने देखा, वरुण ने देखा, अग्नि ने देखा, सब देवों ने देखा और सब स्तब्ध हो गये।

"कौन है वहाँ ?"

"अग्निदेव, हम सबमें आप सबसे अधिक तेजस्वी हैं, अतः जरा जा कर देख आइए कि वहाँ कौन है ?"

अग्निदेव द्वार के पास पहुँचे, किन्तु कुछ पूछ न सके। इस पर उस आकृति ने पूछा, "तू कौन है ?"

"मैं प्रसिद्ध अग्नि हूँ। मैं जातवेदा हूँ। समस्त उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला मैं हूँ।"

"ऐसी बात है ? तो बता तुझमें कितना बल है ?"

"इस पृथ्वी और अंतरिक्ष में जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ हैं उन सब को जला कर भस्म करने की शक्ति मुझमें है।"

"तो ले, इसी को जला।" यह कहते हुए उस आकृति ने घास का एक तिनका उस के सामने रखा और कहा— "स्थावर-जंगम पदार्थों को जलाने की बात हम बाद में करेंगे।"

अग्नि तैयार हुआ, और तिनके पर अपने बल का प्रयोग करने लगा, लेकिन तिनका सुलगे तब न ? अग्निदेव तो इस छोर पर जाते, तिनके को उलटते-पलटते, किन्तु एक चिनगारी भी उड़े तो कैसे उड़े ? स्थावर-जंगम पदार्थों को भस्म करने की इनकी शक्ति आज न जाने कहाँ चली गयी ?

अन्त में अग्नि हारा-थका लौट आया। उसके मुँह पर लज्जा की लाली छा गयी थी। उसने सिर नीचा कर के कहा, "मैं नहीं जान सका कि वह कौन है।"

सारी सभा निस्तेज हो गयी। जातवेदा न जान सके, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो !

"वायुदेव ! वह कौन है, जरा जाकर आप जरा देख आयेंगे ?"

वायु को कहने की देर थी । प्रचंड वेग से वह द्वार के पास पहुँचा । किन्तु केवल पहुँचा ही, वहाँ पहुँच कर तो वह भी स्तब्ध भाव से खड़ा रह गया ।

"तू कौन है ?"

"मैं मातरिश्वा, आकाश में विचरण करने वाला, मैं प्रसिद्ध वायु हूँ ।"

"अच्छा ! तो तुझ में क्या बल है ?"

"पृथ्वी पर और अन्तरिक्ष में जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ हैं—उन सब को एक पल में उड़ा देने की शक्ति मुझ में है ।"

"तो देखें, इसे उड़ा कर दिखा ।" कहते हुए आकृति ने पास का वही तिनका वायु के सामने रखा और कहा, "स्थावर-जंगम पदार्थ को उड़ाने की बात हम बाद में करेंगे ।"

वायु को तो उस तिनके पर अपने बल का प्रयोग करने में लज्जा-सी मालूम होने लगी—कहाँ वायु कहाँ तिनका ! वह वेग से तिनके पर झपटा और उसे उड़ाने का भगीरथ प्रयत्न करने लगा । किन्तु तिनका हिला तक नहीं । वायु थका और खिसियाना हो कर लौट आया ।

'मैं इस आकृति को नहीं पहचान सका ।'

विजयोत्सव मनाने वाले देवों की यह कैसी दशा ? "हे इन्द्र, हे मघवन्, अब तो आप ही उसे पहचान कर आइए ।" देवों ने ने कहा ।

अग्नि और वायु जैसे शक्तिशाली जो वापस आ गये । भला, वह क्या है ? कौन है ? इस प्रकार विचार करते-करते देवराज इन्द्र द्वार की ओर चले । उनके पैर धीमे पड़ रहे थे, उनका श्वास मंद मंद था, उनका मन किसी गहरी चिन्ता में लीन हो गया । आज के विजयोत्सव की धूम-धाम से मानो वह दूर चले गये थे ।

दरवाजे के पास आ कर देखा तो वहाँ कोई न दीखा । इन्द्रासन पर से देखी हुई आकृति कहाँ अदृश्य हो गयी ? वह कौन था ? कहाँ चला गया !

देवराज इन्द्र वहीं समाधि में लीन हो गये । उनका मन उस आकाश में स्थिर हुआ । कुछ देर बाद वहां, उसी स्थान पर उमा प्रकट हुईं । समस्त संसार का सौंदर्य उमा में उतर आया था । उसका शरीर सोने की भाँति दमकता था ।

द्वार पर उमा को देख कर देवराज के हृदय में साहस का संचार हुआ, पूछा—"कुछ समय पहले यहाँ जो था, वह क्या था ?"

देवराज के दीन वदन को प्रफुल्ल करती उमा बोली, "वे तो परमात्मा थे । वे तुम्हारे अग्नि, वायु स्वयं जिस बल का अभिमान करते हैं, वह बल उन्हें कहाँ से मिला है ? तुम देव और असुर, दोनों एक ही प्रजापति के पुत्र हो और असुर तुम से बड़े भी हैं । फिर भी विजय तुम्हें कैसे मिली, क्या तुम जानते हो ? इस बात का होश है कि तुम में जो कुछ है, वो

परमात्मा का है, और तुम भी निमित्तमात्र हो। इसी कारण तुम देव हो, और इसी से तुम्हारी विजय है। असुर परमात्मा की परवाह नहीं करते, और इस अभिमान में मस्त रहते हैं कि वे स्वयं ही सब कुछ हैं। इसलिए वे असुर हैं।"

"मेरी समझ में नहीं आया कि परमात्मा आये क्यों और गये क्यों?"

"सुनो! असुरों को हरा कर तुम सब उत्सव मनाने को एकत्र हुए। तुम यही मानने लगे कि तुम्हारी शक्ति से असुरों की पराजय हुई है। तुमको भी अपने बल का अभिमान हो गया था और अग्नि व वायु तो मानो फूल कर कुप्पा हुए जा रहे थे। यह देख परमात्मा को तुम पर दया आयी। यदि तुम को अभिमान हो जावे तो तुम भी असुर हुए या कोई और?

तुम्हें असुर बनाने से रोकने के लिए, तुम्हारे देवत्व को सुरक्षित रखने के लिए, तुम्हारे अभिमान को नष्ट कर के तुम्हें ठिकाने लाने के लिए और यह सिद्ध करने के लिए संसार के देवासुर-संग्राम में विजय देवों की ही है, परमात्मा ने यह रूप धारण किया और अग्नि एवं वायु दोनों को चमत्कार दिखा दिया। बेटा! आओ तुम देवों के राजा हो। जब तक तुम में यह भाव जागृत रहेगा कि तुम सब में जो शक्ति है, सो परमात्मा की है, तब तक तुम देव हो। जिस क्षण तुम्हें इसका विस्मरण हो जायेगा, उसी क्षण से तुम असुर हो। इसमें सन्देह नहीं कि देवासुर संग्राम में आखिर जीत देवों की ही है।" इतना कह कर उमा अदृश्य हो गयी और देवराज सभा में लौटे।

सभा में आ कर इन्द्र ने देवों को सारी बात सुनायी। सुन कर अग्नि और वायु को भी होश हुआ और सबके मन में जयजयकार के लिए जो असुरावेश आ गया था, वह निकल गया।

इन्द्र ने पूछा "विजय किसकी?"

अग्नि ने कहा, "विजय परमात्मा की।" इन्द्र ने पूछा, "विजय किसकी?" वायु ने उत्तर दिया, "परमात्मा की।" इन्द्र ने पूछा "विजय किसकी?"

सब ने एक साथ कहा, "परमात्मा की अन्य किसी की नहीं।"

यह महाघोष सुना एक साधक ने और हर्षित होकर कहने लगा—आओ हम सब समाधिस्थ होने के लिये ईश्वर प्रणिधान का आश्रय लेकर अपने को कृतार्थ करें। ☼

चलते-चलते पग थके नगर रहा नौ कोस।
साहिब से परिचय नहीं पहुँचोगे किहि देस॥

—कबीरदास जी

# पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

## गोरक्ष-पद्धति में—धारणा का स्वरूप

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संयुक्तो धारणां च समभ्यसेत् ॥

आसन का साधन, प्राणायाम का साधन और प्रत्याहार साधन का अभ्यास करके इन्द्रिय-वृत्तियों को रोकने का सामर्थ्य होने पर धारणा का अभ्यास करना चाहिए।

× × × × ×

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥

हृदय में मन एवं प्राण वायु को निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पंच भूतों को पृथक् पृथक् संधार करना धारणा कहलाती है।

× × × × ×

यापृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता ।
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणाहृदि स्थायिनी ॥
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितान्धारये-
देषास्तंभकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ॥

पहिले पृथ्वीधारणा कहते हैं—जो पृथ्वी हरिताल अथवा सुवर्ण समान रमणीयवर्ण अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मासहित चतुष्कोणाकार मध्य में (लं) बीजयुक्त है, इसे (लं) पृथ्वीतत्त्व को हृदय में ध्यान करके भावना करना उक्त भूमंडल में प्राण भी लीन हो चित्तसहित प्राण को लीन करके पांच घटीपर्यंत स्तम्भन करने वाली धारणा होती है इस धारणा के सर्वदा अभ्यास से पृथ्वीतत्त्व अपने वशवर्ती होता है।

अर्द्धेन्दुप्रतिभं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्वं स्थितं ।
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चित्तान्वितं धारये-
देयां दुःसहकालकूटदहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥

वारुणी (जल) धारणा कहते हैं—अर्धचन्द्राकार कुन्दपुष्प समान श्वेतवर्ण अमृत रूप (व) बीजमध्यसहित अधिष्ठातृदेवता विष्णुसहित जलतत्व को विशुद्धचक्र में ध्यान करना और उक्त जलतत्व में आप भी लीन हो चित्तसहित प्राण को लीन कर पांच घड़ी पर्यंत धारणा करना यह जलस्तम्भन करने वाली वारुणीधारणा है इसके सर्वदा अभ्यास से कालकूट विष भी भस्म हो जाता है, और शरीर में असर नहीं करता ।

× × × × ×

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्वं त्रिकोणानलं ।
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम् ॥
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देयां वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा ॥

आग्नेयी धारणा कहते हैं—इन्द्रगोप (वीरबहूटी कीड़े) के सदृश रक्तवर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल (मूंगा) समान रमणीय तेजोरूप (र) बीजमध्य शोभित अधिष्ठातृ देवता रुद्रसहित आग्नेयतत्व को तालुस्थान में भावना कर उक्त अग्नितत्व में स्वयं भी लीन होकर चित्तसहित प्राण को लीन करके पांच घटीपर्यन्त तन्मय होना ही वैश्वानरी धारणा है, इसके सर्वदा अभ्यास से योगी अग्नि को जीतने वाला होता है और अग्नि उसको नहीं जलाती ।

× × × × ×

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं ध्रुवोरन्तरे ।
तत्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ॥
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषां खेगमनं करोति यमिनःस्याद्वायवी धारणा ॥

वायवी धारणा कहते हैं—वर्तुलाकार कज्जल के पुंजसमान अनिनीलवर्ण (य) बीज सहित अधिष्ठातृदेवता ईश्वरसहित वायुतत्व को भ्रूमध्य में ध्यान कर उक्त वायुतत्व में

आप भी लीन हो या चित्तसहित प्राण को लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह वायु तत्व की धारणा है इस धारणा के नित्य अभ्यास करने से आकाश में गति होती है।

× × × × ×

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृ यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं ।
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्वं हकारान्वितम् ॥
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

वर्तुलाकार निर्मल जलसमान वर्ण (ह) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता सदाशिवसहित आकाशतत्व को ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करना इस तत्व में आप भी लीन हो चित्तसहित प्राण को लीन कर पांच घटी तक स्थिर रखना, यह नभोधारणा मोक्षरूपी द्वार के खोलने में चतुर है, इसके नित्य अभ्यास करने से मोक्षद्वार खुल जाता है।

× × × × ×

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दाहनी भ्रामिणी तथा ।
शोषिणी च भवन्त्येषा भूतानां पंच धारणाः ॥

पृथ्वी धारणा के अभ्यास दृढ़ होने पर जलपवनादि स्तम्भनसामर्थ्य होती है, आकशी-धारणा के अभ्यास दृढ़ होने पर समस्त ब्रह्माण्ड को द्रव (जल) समान करने की सामर्थ्य होती है, एवं आग्नेयी से बिना अग्नि ही वस्तु मात्र को जलाने की सामर्थ्य होती है, वायु धारणा से वस्तु मात्र किंवा समस्त जगत् को घुमाने की सामर्थ्य होती है, नभोधारणा से से सर्वशोषण सामर्थ्य होती है, इन पांच धारणाओं की साधारण क्रियायें है।

× × × × ×

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पंचदुर्लभाः ।
विधाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥

कर्म (अनुष्ठान) से मन के चिंतन से, वचन शास्त्र के प्रमाण मानने से, निरन्तर द्वारा पांचों धारणाओं का स्थिराभ्यास करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है।

पृष्ठ आठ का शेष—

# ❀ योग साधन की अनिवार्यता ❀

तत्त्व को योगी यथार्थ रूप से जान लेता है। यह ख्याति ही अज्ञान ग्रन्थि भेदन का कारण है 'भिद्यते हृदय ग्रन्थि' वाली उक्ति उस समय चरितार्थ होती है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि योग ही अज्ञान रूप दुःख से आत्यन्तिक तथा एकान्तिक निवृत्ति दिलाने का एकमात्र साधन है। 'हृदय ग्रन्थि' का भेदन केवल विवेक ख्याति से ही संभव है दूसरा कोई उपाय नहीं है। गीता में भी भगवान ने अपने मुखारविन्द से कहा है।

तं विद्यात् दुःख संयोग
वियोगम् योग संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो
योगो अनिर्विण्ण चेतसा।

अर्थात् दुःख के संयोग का वियोग वाली योग विद्या को अवश्य ही धैर्ययुक्त मन से युक्त होकर जानना चाहिए। आगे पुनः भगवान ने कहा है—

युन्जनैवम् सदात्मानं
योगी विगत कल्मषः।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्श-
मत्यन्तम् सुखमश्नुते॥

अर्थात् निष्पाप योगी अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त हुआ सुख पूर्वक ब्रह्मभाव रूपी अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है।

श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कन्ध में भी भगवान कपिल ने अपनी माता देवहूति को योग का उपदेश देते हुये कहा है।

योगः आध्यात्मिक पुंसां
मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तो परतिर्यत्र
दुःखस्य च सुखस्य च॥

अर्थात् आध्यात्मिक योग ही मनुष्य के अपवर्ग के लिए उपाय है जहाँ सुख व दुःख उपराम हो जाते हैं।

योग से ही अज्ञान रूप संसार का नाश सम्भव है। योगबीज में भगवान शङ्कर पार्वती से कहते हैं देवि!

पुण्यापुण्येन लभते
सिद्धेन सह सङ्गतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा॥
ततो नश्यति संसारो
नान्यथा शिवभाषितम्॥

और भी योग की महिमा को बताते हुए भगवान कहते हैं—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि,
धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि
न मोक्षं लभते प्रिये॥

भावार्थ यह है कि देवता भी बिना योग का आश्रय लिए मुक्ति को नहीं पा सकते।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि दुखों से हमेशा-हमेशा के लिए छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय योग है। संसार के रोग हर अद्वितीय औषध योग ही है। योग का अवलम्बन लेकर ही जीव अपने स्वरूप को पाकर शाश्वत सुख और शान्ति पा सकता है। ❀

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Jan. 1986

प्रेषक कार्यालय :—

# सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book–Post

श्री ..........................................

..........................................

..........................................

..........................................

## यज्ञ-दान-तपः क्रिया सततं प्रवर्त्तते

यज्ञ, दान, तप क्रियायें सतत होती रहती हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य जिन तीन संस्थाओं के साथ पैदा होता है उनके नाम हैं सृष्टि, समाज और शरीर। मनुष्य के संसर्ग से इन तीनों में हमेशा छीजन और अशुद्धि होती रहती है। इस छीजन और अशुद्धि को दूर करने लिए ही यज्ञ दान और तप का यह त्रिविधि कार्यक्रम है यज्ञ से सृष्टि की, दानसे समाज की और तप से शरीर की छीजन की पूर्ति होती है तथा अशुद्धि भी दूर होती है। मोक्ष के अभिलाषियों को प्रभु नाम स्मरण के साथ यज्ञ दान और तप के त्रिविधि कार्यक्रम को सदा करते रहना चाहिए।

—भगवान श्रीकृष्ण

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विमल' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काली, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८